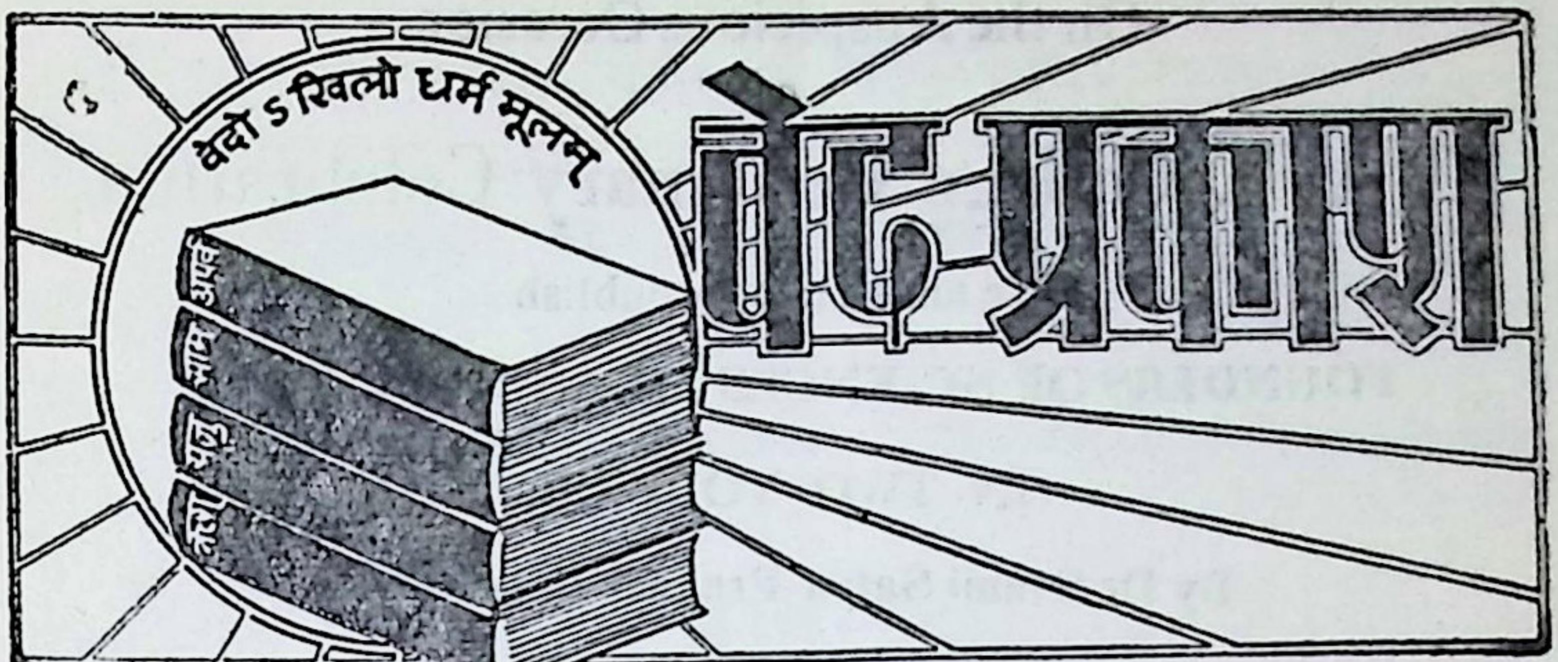

वेदप्रकाश के विशेषांक का भव्य स्वागत

३६वें वर्ष के आरम्भ में 'वेदप्रकाश' का वेदांक प्रकाशित हुआ है। इसका सर्वत्र स्वागत हुआ है। यह अंक जिनका शुल्क आ गया था केवल उन्हें ही भेजा गया है। जिन्होंने अभी तक शुल्क नहीं भेजा है कृपया अपना शुल्क शीघ्र भेजें अन्यथा पीछे हाथ मलते रह जाएँगे।

सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश फोटो टाइप द्वारा कम्पोज होने के लिए दे दिया गया है। फिलहाल आधुनिक भाषा में निकालने का विचार स्थगित कर दिया गया है। उसके लिए लम्बा समय चाहिए। यह ग्रन्थ दीपावली के अवसर पर छापने का उद्योग हो रहा है।

सत्यार्थप्रकाश को आधुनिक भाषा में प्रकाशित करने के सम्बन्ध में जो पत्र आये हैं, हम आगामी अंक में उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं। उससे पाठकों को दोनों प्रकार के विचारों की जानकारी प्राप्त होगी।

हंसराज ग्रन्थावली

हंसराज ग्रन्थावली के दो खण्ड छप चुके हैं। तीसरा शीघ्र तैयार होने वाला है। दीपावली तक सम्पूर्ण ग्रन्थावली पूर्ण हो जाएगी। ३१ सितम्बर तक २४०-०० का चार भागों का यह ग्रन्थ मात्र १५०-०० में दिया जा रहा है। साथ में पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कृत सत्य की खोज ५०-०० भी भेंट में। शीघ्रता करें।

—व्यवस्थापक

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-६

On the Auspicious Occasion
of
D. A. V. College Centenary Celebration

We announce to publish

FOUNDERS OF SCIENCES IN ANCIENT INDIA

IN TWO VOLUME

By Dr Svami Satya Prakash Sarasvati

Contents

I Atharvan—The First Discoverer of Fire
II Fire leads to Mechanical Devices
III Dīrghatamas—The Discoverer of the Vedic Era
IV Gārgya—The First Enumerator of Consteliations
V Bharadvāja Presides over the First Medicinal Plants Symposium
VI Ātreya Punarvasu and His Academy of Medicine
VII Suśruta—The Father of Surgery
VIII Kaṇāda—The First Expounder of Realism, Law of Causation and Atomic Theory
IX Medhātithi—First to Extend Numerals to Billions
X Āryabhata lays Foundations of Algebra
XI Lagadha—The First to Rationalize Astronomy
XII Lātadeva & Sriṣeṇa Introduce Greek Astronomy to India
XIII Baudhāyana—The First Great Geometer

The volume is printed on sunlit offset paper by Offset process.
Full cloth bound, Pages 700, Price Rs. 500/-
Send Your Order with draft to

GOVINDRAM HASANAND

4408, Nai Sarak, Delhi-110006

वेदप्रकाश

संस्थापक : स्वर्गीय श्री गोविन्दराम हासानन्द

वर्ष ३६, अंक २] वार्षिक मूल्य : दस रुपये [सितम्बर १९८६

सम्पा० : विजयकुमार आ० सम्पादक : स्वा० जगदीश्वरानन्द सरस्वती

आर्यावर्त्त

एक साप्ताहिक : एक इतिहास

लेखक—दयाराम पोद्दार (लेक रोड, राँची)

स्वर्गीय इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने 'आर्यसमाज का इतिहास' भाग एक के पृष्ठ २४४ से २४८ में तत्कालीन समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं के बारे में लिखा है, पर साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' १८८७ से १९०५ तक जो बिहार व बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र एक एप्रिल १८९८ ई० से राँचीस्थ कार्यालय से निकलता था, उसका उल्लेख तक नहीं है। इसीलिए भविष्य में आर्य-समाज के शुद्ध व प्रामाणिक इतिहास में संकलन-हेतु, साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' के बारे में निम्नलिखित बातें मैंने जानकारी के लिए पुनः संशोधन कर लिखी हैं। यह लेख इसके पूर्व आर्यमित्र (लखनऊ) में २४ और ३१ जुलाई १९६६ के अंकों में छपा था।

राष्ट्रभाषा में आर्यसमाज का सर्वप्रथम साप्ताहिक

सन् १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् आर्यसमाज का हिन्दी में कौन-सा प्रथम हिन्दी साप्ताहिक पत्र था, इसका प्रामाणिक विवरण पत्रकारिता के इतिहास में उपलब्ध नहीं है। श्री भवानीलाल 'भारतीय' कृत "आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार" पुस्तक में पृष्ठ २४ पर १८७८ ई० में मेरठ से प्रकाशित "आर्य समाचार" को प्रथम हिन्दी साप्ताहिक पत्र बतलाया गया है; इसी पुस्तक के पृष्ठ १८४ पर इसे प्रथम उर्दू अखबार बतलाया गया है जो परस्पर-विरोधी बात है। इसी पुस्तक के पृष्ठ ३७ के अनुसार आर्यसमाज कानपुर से १८८४ ई० में साप्ताहिक 'वेद प्रकाश' के प्रकाशन का उल्लेख है, जिसका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है।

इस पृष्ठभूमि में यह महत्त्वपूर्ण बात है कि साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' का प्रकाशन पहली एप्रिल १८८७ ई० में आर्यावर्त्त प्रेस, ६२ शम्भुनाथ पण्डित स्ट्रीट, भवानीपुर, कलकत्ता से हुआ। यह बात आर्यसमाज राँची में तत्कालीन समय में प्रकाशित 'आर्यावर्त्त' की लगभग ६५ प्रतियों की सुरक्षित फाइल में ग्राहकों से पुनः चन्दा प्राप्त करने की अपील व समाचारपत्रों की प्रतियों के ऊपर अंकित वर्ष से ज्ञात होती है। उस समय वर्तमान विहार, उड़ीसा और बंगाल एक संयुक्त राज्य था और कलकत्ता सम्पूर्ण अंग्रेजी साम्राज्य की राजधानी थी। हिन्दी पत्रकारिता का केन्द्र भी यही महानगर था।

'आर्यावर्त्त' के संस्थापक, सम्पादक एवं कार्यालय-स्थान १८८७-१८९८

इस पत्र के संस्थापक एवं संचालक भागलपुर के जमींदार श्री महाबीर प्रसाद जी थे। इसके दो प्रमाण हैं—(१) साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' का ८ दिसम्बर १९०० ई० का उपलब्ध अंक, एवं (२) विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री गजाधरसिंह द्वारा १६ जनवरी १८९८ ई० को लिखा गया एक पत्र (जिसकी नकल वर्तमान आर्यसमाज राँची में सन् १८९८ ई० से १९०३ तक लिखे पत्रों के प्रतिलिपि-रजिस्टर में संलग्न है)।

'आर्यावर्त्त' के १८ फरवरी १९०५ के अंकानुसार उक्त श्री महावीरप्रसाद जी भागलपुर के राय तेजनारायण जी की कोठी में रहते थे, इन्होंने ही 'आर्यावर्त्त' पत्र निकाला था।

स्व० इन्द्र जी लिखित 'आर्यसमाज का इतिहास' (भाग एक) पृष्ठ २८३ से ज्ञात होता है कि जब सर्वप्रथम कलकत्ते में सन् १८८५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई तो श्री महावीरप्रसाद जी इसके सर्वप्रथम प्रधान निर्वाचित हुए थे। पर वस्तुतः कलकत्ता आर्यसमाज के प्रथम प्रधान श्री तेजनारायण सिंह थे। श्री महावीरप्रसाद जी उनके नज़दीकी रिश्तेदार थे। सामाजिक कार्यों में उनसे अधिक सक्रिय रहने के कारण उन्हें ही लोग प्रधान जी कहते थे, यही सूचना स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी को शायद प्राप्त हुई थी।

एक शंका का समाधान—साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' का प्रकाशन-स्थान कहाँ था, इस सम्बन्ध में विचित्र विरोधाभास व ग़लतफ़हमी है।

उदाहरणार्थ—(१) ज्ञानमण्डल, काशी से प्रकाशित समाचारपत्रों का इतिहास (लेखक—सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी) के पृष्ठ १९७ और २९९ के अनुसार 'आर्यावर्त्त' पहले १८८७ में कलकत्ते से निकलता था। १८९७ में यह राँची से निकलने लगा और वाद में पटना, दानापुर से निकलने लगा। १९१० से १९१७ तक भागलपुर से मासिक रूप में छपता था। १९२१ में पटने से निकलने लगा तथा बाद में बन्द हो गया। (२) सन् १९४४ ई० में आर्यसमाज राँची ने अपने

५०वें स्थापना-वर्ष में प्रकाशित अष्ट पृष्ठीय विवरण में कहा है कि रांची से १८९७ से से १९०७ तक 'आर्यावर्त्त' अखबार निकलता था।

वस्तुत: २ एप्रिल १९०४ ई० के 'आर्यावर्त्त' के अंक के स्वत:प्रमाण के अनुसार इसके कार्यालय के स्थानान्तरण का क्रम इस प्रकार था—पहले यह कलकत्ता में था, फिर दानापुर और फिर रांची आया।

आर्यावर्त्त के प्राप्त अंकों से यह पता नहीं चलता कि यह पत्र कबतक कलकत्ते और दानापुर में रहा और कब रांची आया। इसके सम्बन्ध में कतिपय तथ्य द्रष्टव्य हैं—

(१) स्वामी श्रद्धानन्दकृत धर्मवीर लेखराम की जीवनी के तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४८ से ज्ञात होता है कि जब धर्मवीर लेखराम ऋषि-जीवनी की सामग्री एकत्र करने के लिए पटना, बाँकीपुर होते हुए कलकत्ता पहुँचे तो १४ फरवरी १८९१ ई० को 'आर्यावर्त्त' के कार्यालय में डेरा किया। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कम-से-कम १८९१ तक 'आर्यावर्त्त' अखबार कलकत्ते में था। यह पत्र निश्चित रूप में १८९७ ई० में कलकत्ते से दानापुर आया, क्योंकि 'आर्यावर्त्त' के एक अंक के अनुसार इसके प्रथम सम्पादक पण्डित रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य थे। 'समाचार-पत्रों का इतिहास' और 'आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार' पुस्तक के पृष्ठ १६४ पर पत्रकार-शिरोमणि पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित पण्डित रुद्रदत्त जी की जीवनी के सम्बन्ध में एक लेख उद्धृत किया गया है। इसके अनुसार पण्डित रुद्रदत्त जी ने १० वर्ष तक कलकत्ते में 'आर्यावर्त्त' का सम्पादन किया। तब निश्चय ही वे १८९७ तक सम्पादक रहे, चूँकि १८८७ ई० से 'आर्यावर्त्त' का प्रारम्भ, सप्रमाण इस लेख के प्रारम्भ में ही पूर्ववर्णित है।

पण्डित रुद्रदत्त जी के अतिरिक्त 'आर्यावर्त्त' के कौन-कौन सम्पादक रहे, इसके सम्बन्ध में 'समाचारपत्रों का इतिहास' के पृष्ठ १९७ में लिखा है कि पण्डित क्षेत्रपाल शर्मा इसके सम्पादक थे। यह स्मरणीय है कि पण्डित क्षेत्रपाल जी पश्चात् में सुखसंचारक कम्पनी मथुरा के मालिक हुए। पृष्ठ २९९ पर अंकित है—"कौन महाशय इसके सम्पादक थे, नहीं मालूम, परन्तु पण्डित शिवनाथ त्रिवेदी नाम के एक सज्जन इसके सम्पादक-मण्डल में थे। यह उन्होंने हमें बतलाया था।" वस्तुतः पण्डित रुद्रदत्त जी ही विशेष रूप से इसके सम्पादक थे।

'आर्यावर्त्त' जब कलकत्ते से दानापुर आ गया, तब बाबू ब्रह्मानन्द, जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से विख्यात हुए और गुरुकुल झज्जर के मुख्याधिकारी रहे, वे वैदिक यन्त्रालय, अजमेर का काम छोड़कर दानापुर आये और पत्र के सम्पादक व प्रबन्धक हो गये। बाबू ब्रह्मानन्द जी बिहार के आरा जिला में डुमरा ग्राम के निवासी थे। कुछ दिन तक आरानिवासी पण्डित श्याम जी शर्मा, जो भागलपुर के जिला स्कूल के हेड पण्डित थे, वे भी सम्पादक रहे। एक पंजाबी

नवयुवक होतीलाल भी सम्पादक-मण्डल में था, जिसे पुलिस क्रान्तिकारियों से सम्पर्क रखने व बम बनाने के षड्यंत्र में पकड़कर ले गई।

आर्यसमाज राँची उन दिनों बिहार-बंगाल के आर्यसमाजों में प्रमुख स्थान रखता था। प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रेषित पत्रों की प्रतिलिपि का एक रजिस्टर, जिसमें प्रथम पत्र ६ जनवरी १८९८ ई० का है (राँचीस्थ कार्यालय से लिखा गया था) उस समय सभा का प्रधान कार्यालय १८९८ ई० में राँची हो गया था। श्री बालकृष्ण सहाय उन दिनों आर्यसमाज राँची एवं प्रतिनिधि सभा के भी प्रधान थे। ८ अक्टूबर १८९७ ई० को आर्यसमाज राँची की अन्तरंग सभा ने श्री बालकृष्ण सहाय के प्रधानत्व में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—"चूंकि बिहार-बंगाल आर्यसमाज प्रतिनिधि सभा का अपना ऑर्गन नहीं है तथा ऑर्गन रहने की बड़ी आवश्यकता है और 'आर्यावर्त्त' पत्र सामाजिक एक है, दूसरा चलना 'आर्यावर्त्त' को कठिन और इसके लिए हानिकारक है, इसलिए प्रतिनिधि सभा से प्रार्थना की जाए कि वह बाबू महाबीरप्रसाद को प्रार्थना करें कि 'आर्यावर्त्त' पत्र तथा प्रेस, जिसका मूल्य प्रतिनिधि सभा किश्त करके बाबू साहेब को दे देगी, वह प्रतिनिधि सभा को दे देवे।" इस सभा में पण्डित रुद्रदत्त जी सम्पादकाचार्य भी उपस्थित थे। उनके हस्ताक्षर अन्तरंग पुस्तिका में अंकित हैं। प्रतिनिधि सभा के मन्त्री द्वारा १६ जनवरी १८९८ ई० को प्रेषित पत्र से ज्ञात होता है कि श्री महावीरप्रसाद ने 'आर्यावर्त्त' पत्र प्रतिनिधि सभा को दान में दे देने का प्रस्ताव किया था, जिसे प्रतिनिधि सभा ने स्वीकृत कर लिया था। १० मार्च १८९८ ई० को प्रतिनिधि सभा को 'आर्यावर्त्त' पत्र का अधिकार प्राप्त हुआ था। पत्र राँची से एक एप्रिल १८९८ ई० से निकलने लगा।

२० मई १८९८ ई० को प्रतिनिधि सभा के मन्त्री द्वारा लिखे पत्र के अनुसार २९ मई को बाँकीपुर में सभा का नैमित्तिक अधिवेशन रक्खा गया था, जिसकी विषय-सूची से ज्ञात होता है कि महावीरप्रसाद जी ने 'आर्यावर्त्त' पत्र कुछ शर्तों के साथ दिया था। ये शर्तें ९ एप्रिल १८९८ ई० के 'आर्यावर्त्त' में छपी थीं। सभा का यह अधिवेशन कोरम पूरा न होने के कारण नहीं हो सका। इस अधिवेशन में आर्यसमाज राँची से 'आर्यावर्त्त' पत्र के प्रबन्ध-सम्बन्धी शर्तों पर विचार होना था। पत्र के प्रबन्ध-सम्बन्धी शर्तों के विचारार्थ आर्यसमाज राँची की अन्तरंग सभा ने ७ नवम्बर और २९ नवम्बर १८९८ ई० की अपनी विशेष बैठक में निम्नलिखित नियम स्वीकृत किये—

(१) 'आर्यावर्त्त' पत्र का प्रबन्ध आर्यसमाज राँची के अधीन कम-से-कम ५ वर्ष तक रहेगा।

प्रतिनिधि सभा को निरीक्षण करने का अधिकार रहेगा।

(२) 'आर्यावर्त्त' के द्वारा जो हानि वा लाभ हो, उसका भागी प्रतिनिधि

सभा होगी।

(३) जबतक काफी धन 'आर्यावर्त्त' के कोष में नहीं हो जाए, तबतक वैतनिक ऐडिटर और मैनेजर न मुकर्रर किये जाएँगे।

(४) काफी धन होने पर पहले ऐडिटर, तत्पश्चात् मैनेजर वेतन पर बहाल किये जाएँगे।

(५) बचा हुआ धन स्थिर कोष के समान रक्षित रहेगा और आवश्यकतानुसार 'आर्यावर्त्त' के कार्य में ही लगाया जाएगा।

(६) ऐडिटर और मैनेजर, वैतनिक या अवैतनिक, आर्यसमाज राँची मुकर्रर करेगा और उसकी मंजूरी प्रतिनिधि सभा के अधीन रहेगी।

(७) आर्यसमाज राँची ११ सभासद चुनकर एक कार्यकारिणी सभा निर्मित करेगा, जिसमें अध्यक्ष और मैनेजर उक्त समाज के सभासद अवश्य रहेंगे। पत्र को विना मूल्य या कम मूल्य पर व्यक्ति-विशेष को देने का अधिकार कार्यकारिणी सभा को रहेगा, पर ऐसे मनुष्यों की संख्या सैकड़े पीछे ५ से अधिक किसी दशा में न होगी।

(८) आर्यसमाज राँची आय और व्यय का नक्शा हर तीन माह में तैयार करके प्रतिनिधि सभा में भेजा करेगा, जब प्रतिनिधि सभा माँगे।

(९) पत्र में किसी प्रकार का परिवर्तन, प्रकाशन, लेख, मूल्यादि में विना प्रतिनिधि सभा की स्वीकृति के नहीं किया जा सकेगा। सर्वसम्मत्यानुसार निश्चित हुआ कि प्रतिनिधि सभा को सूचना दी जाए कि सम्पादक श्री बालकृष्ण सहाय तथा बाबू द्वारकानाथ जी मैनेजर नियत किये गये।

सन् १८९८ ई० में बिहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के वार्षिक अधिवेशन (जो छपरा में हुआ) में आर्यसमाज राँची द्वारा स्वीकारार्थ प्रेषित उपर्युक्त नियमों पर विचार न हो सका, क्योंकि कलकत्ता आर्यसमाज के प्रतिनिधियों ने इस अधिवेशन में आर्यावर्त्त पत्र का प्रवन्ध एवं संचालन स्वयं करने की अभिलाषा प्रकट की। उस समय तक राँची-स्थित आर्यावर्त्त-कार्यालय के जिम्मे सात-आठ सौ रुपये बकाया हो चुके थे। अतः ११ फरवरी १९०० को प्रतिनिधि सभा के मन्त्री द्वारा कलकत्ता-समाज को पत्र लिखा गया कि यदि वह उपर्युक्त रकम की अदायगी कर दे और उसके नियम सन्तोषजनक हों तो 'आर्यावर्त्त' पत्र ११ एप्रिल १९०० ई० से कलकत्ते से ही निकले। पत्र का उत्तर आया या नहीं, कहीं भी अंकित नहीं है। फिर भी 'आर्यावर्त्त' राँची से उसके वाद भी नियमित रूप से निकलता रहा।

विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के यशस्वी प्रधान और 'आर्यावर्त्त' के अवैतनिक सम्पादक वाबू बालकृष्ण सहाय ने समाचारपत्र के प्रचार के लिए कोई कसर न छोड़ी। तदपि पत्र की आर्थिक स्थिति खराब ही रही। पत्र का न तो अपना प्रेस था और न टाइप। 'आर्यावर्त्त' उनके निजी कमलेश्वर प्रेस में छपता

था। उन्होंने पत्र की आर्थिक स्थिति सुधारने के अभिप्राय से १ जुलाई १८९९ ई० को सात वर्षों का अग्रिम चन्दा १०० ग्राहकों से प्रति २५ रुपये की दर से प्राप्त करने की योजना पेश की, जिससे पत्र का अपना प्रेस हो सके। १५ दिसम्बर १९०० तक ११ लोगों ने २६० रुपये चंदा भेजा था और ४१५ रुपये प्रतिज्ञा-राशि थी। प्रेस क्रय करने के निमित्त सम्मिलित रकम भी यथेष्ट नहीं थी। उन्होंने निराश होकर लोगों के रुपये लौटाने का निश्चय किया, पर लोगों के आग्रह पर उपर्युक्त रकम छोटा नागपुर बैंक में जमा कर दी गई। कहा नहीं जा सकता कि यह धन एकत्र हुआ या नहीं, पर फिर भी प्रतिनिधि सभा के लिए प्रेस खरीदा गया और प्रथम बार रॉयल पृष्ठों में एप्रिल १९०१ से 'आर्यावर्त्त' इसी प्रेस से छपने लगा। तत्कालीन पत्र के अन्त में निम्नलिखित अंकित है—Printed and published by M. Dwarka Nath, Manager at the Pratinidhi Press. Published for Arya Pratinidhi Sabha Bihar-Bengal.

२२ दिसम्बर १९०० ई० के अंक के अनुसार कलकत्ता के पोस्टमास्टर जनरल ने धर्म-सम्बन्धी समाचारपत्र बतलाकर रियायती दर पर प्रेषित समाचार-पत्रों की नामावलि से इसका नाम हटा दिया। पुनः तत्कालीन युद्ध-सम्बन्धी समाचारों के छपने के कारण इसका नाम पुन: सूची में चढ़ाया गया।

ग्राहक-संख्या—आर्य भाषा में एकमात्र साप्ताहिक होने और अपनी विशिष्ट सामग्री के कारण पत्र सुदूर स्थानों व विदेशों में भी जाता था। १५ सितम्बर १९०० ई० के अंक में ९४ ग्राहकों के द्वारा एव २० अक्टूबर १९०० ई० के अंक में ७४ ग्राहकों के नाम और पते-सहित 'आर्यावर्त्त' का शुल्क प्राप्त दिखाया गया है। १८ फरवरी १९०० ई०, १० नवम्बर १९०० ई० और ८ दिसम्बर १९०० ई० को सम्पादक के नाम प्रेषित पत्र के अनुसार ग्राहकों की संख्या क्रमश: ६५०, एक हजार और ४०० थी।

वार्षिक चन्दा—इसका वार्षिक शुल्क राँचीस्थ समय में ३ रुपये ५० पैसे था। १८९८ ई० में उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक उर्दू 'मुहर्रिक' हिन्दी का 'आर्यमित्र' बनकर निकलने लगा। 'आर्यमित्र' का वार्षिक शुल्क २ रुपये था, अतः व्यापारिक दृष्टिकोण से 'आर्यावर्त्त' को भी १९०५ ई० में पूर्व-समझौते पर २ रुपये वार्षिक शुल्क में विशेष अवस्थाओं में दिया जाने लगा, वैसे वार्षिक शुल्क ३ रुपये ५० पैसे ही था। पत्र की सम्पादकीय टिप्पणी से ज्ञात होता है कि 'आर्यमित्र' 'आर्यावर्त्त' के लेख बिना उद्धरण के छापता था। 'आर्यावर्त्त' मार्च १९०३ ई० तक १९"×१२" आकार में प्रकाशित होता था। इसके अनन्तर २०"×१३" आकार में छपने लगा।

आर्यावर्त्त साप्ताहिक रूप में समाप्त—सन् १९४४ ई० में आर्यसमाज राँची के अर्द्धशताब्दि वर्ष में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार 'आर्यावर्त्त' पत्र राँची से

१८९७ ई० से १९०७ तक निकलता रहा। यह तथ्य किसी प्रमाण पर आधारित न होकर उक्त समय समाज के पुराने सदस्यों की स्मृति के आधार पर लिखा गया था। पर वस्तुस्थिति यह है कि इस लेख के उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से 'आर्यावर्त्त' का प्रकाशन राँची से १ एप्रिल १८९८ ई० से हुआ। वर्तमान समय में आर्यसमाज राँची में उपलब्ध २८ अक्टूबर १९०५ ई० के 'आर्यावर्त्त' में प्रकाशित घोषणा के अनुसार पूंजी, ग्राहक व निजी टाइप की कमी के कारण दो सप्ताह के पश्चात् इस साप्ताहिक को बन्द कर देने की घोषणा छपी है। अतः उपर्युक्त प्रमाणों एवं लिखित तथ्यों से प्रमाणित होता है कि आर्यसमाज राँची से बिहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र 'आर्यावर्त्त' का प्रकाशन १ एप्रिल १८९८ ई० से हुआ और ११ नवम्बर १९०५ को इसका अन्तिम अंक छपा। इस प्रकार साप्ताहिक रूप में निरन्तर १९ वर्षों तक चलकर यह समाचार-पत्र बन्द हो गया।

'आर्यावर्त्त' का मासिक रूप में पुनः प्रकाशन

'समाचारपत्रों का इतिहास' (पृष्ठ १९७ और २९९) के अनुसार साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' पश्चात् में भागलपुर से १९१० ई० में मासिक रूप में पं० श्याम शर्मा के सम्पादकत्व में १९१७ तक निकलता रहा। मासिक रूप में पत्रिका का आकार १०" × ६॥" और वार्षिक मूल्य एक रु० था। 'प्रवासी की आत्मकथा' (पृष्ठ ७३) के अनुसार इसके लेखक भवानीदयाल संन्यासी प्रतिनिधि सभा के उपदेशक और मासिक 'आर्यावर्त्त' के सहकारी सम्पादक थे।

१९१२ ई० में राजनैतिक रूप में बिहार और बंगाल दो पृथक् प्रान्तों के रूप में विभाजित हो गये। कलकत्ता में कार्यालय रहने से बिहार की आर्यसमाजों में शिथिलता आने लगी तो २८ मार्च १९२६ को पृथक् रूप से बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। बिहार प्रतिनिधि सभा द्वारा अपना साप्ताहिक पत्र निकालने के प्रस्ताव को मुंगेर-निवासी डॉ० कार्तिकप्रसाद एल० एम० एस० ने अपना प्रेस दान कर मूर्त्त रूप दिया। उस समय बिहार प्रतिनिधि सभा के मन्त्री स्वर्गीय महादेवशरण जी थे जो बाद में कई वर्षों तक गुरुकुल वैद्यनाथधाम (जिला संथाल परगना) के मुख्याधिष्ठाता रहे। आप एक अवधि के लिए बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के भी प्रधान बने। इस साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' के सम्बन्ध में भवानीदयाल संन्यासी द्वारा लिखित 'प्रवासी की आत्मकथा' के पृष्ठ ३९५ पर निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है—

सन् १९३१ ई० में पटना से 'आर्यावर्त्त' पत्र निकला, जो बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रमुख पत्र था। इसके प्रधान सम्पादक के आसन पर मुझे बिठाया गया था। मैंने अवैतनिक रूप से यह पद स्वीकार कर लिया था। मैं

जहाँ कहीं भी होता, यह अग्रलेख से वंचित रहने नहीं पाया। मेरे सहकारी पण्डित महादेवशरण जी थे और वास्तव में वही इस पत्र के प्राण थे, उन्हीं के उद्योग से 'आर्यावर्त्त' निकला था और उन्हीं के अथक परिश्रम से उसका संचालन भी हो रहा था। उन्हीं के प्रयत्न और प्रेरणा से मैंने भी 'आर्यावर्त्त' का सम्पादन-भार स्वीकार किया था। महादेवशरण जी उन आर्यों में से एक हैं जिनपर आर्य-समाज गर्व कर सकता है। इस समय वे गुरुकुल देवधर के मुख्याधिष्ठाता हैं।

'आर्यावर्त्त' अखबार गगन में उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति चमक उठा था। उसमें 'आर्यावर्त्त' के अतिरिक्त बृहत्तर आर्यावर्त्त (Greater India) की भी यथेष्ट चर्चा रहती थी। प्रत्येक अंक में प्रवासी भारतीयों की परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता था। सन्ताप की बात है कि कुछ कारणवश वह दीर्घजीवी न हो पाया और अपना प्रकाश फैलाकर अदृश्य हो गया। जिस दिन अर्थात् सन् १९३२ के मार्च मास में मैंने बम्बई से दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान किया उसी दिन उसका अन्तिम अंक निकला था। सन् १९१३ ई० में जब मैंने पत्रकारिता के क्षेत्र में पहलेपहल प्रवेश किया था तो इसी नाम से मासिक पत्र के सहकारी सम्पादक के रूप में। अतएव 'आर्यावर्त्त' पर स्वभावतः मेरी ममता और मोह है। इस समय तो 'आर्यावर्त्त' नामक उच्चकोटि का दैनिक समाचारपत्र पटना से निकल रहा है, जो दरभंगा-नरेश की कृति और सम्पत्ति है, अर्थात् पटना से अभी प्रकाशित दैनिक 'आर्यावर्त्त' का पूर्व में प्रकाशित साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' से या आर्यसमाज के संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

वर्तमान समय में आर्यसमाज राँची के पास निम्नलिखित पुराने कागज़ात उपलब्ध हैं—(i) सन् १९०० ई० से १९०५ में प्रकाशित साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' के कतिपय अंक, (ii) सन् १८९८ ई० से १९०३ तक तत्कालीन विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के द्वारा प्रेषित पत्रों की प्रतिलिपियाँ, और (iii) सन् १८९७ ई० से अद्यतन आर्यसमाज राँची की 'अन्तरंग कार्यवाही पुस्तिका'। उपर्युक्त कागज़ात के आधार पर साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' एवं आर्यसमाज के इतिहास से सम्बन्धित निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं—

(१) 'आर्यावर्त्त' पत्र के मुखपृष्ठ पर निम्न बातें अंकित रहती थीं—

ओ३म्

आर्यावर्त्त

The Aryavarta

A weekly organ of the Arya Pratinidhi Sabha Bihar-Bengal.

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्ठम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(२) 'आर्यावर्त्त' आठ पृष्ठों में छपता था। प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ पर विविध दवाइयों, विवाह, आर्यसमाज आगरा, बच्छोवाली लाहौर समाज, पंजाब प्रतिनिधि सभा, आर्यावर्त्त राँची एवं अन्य प्रकाशकों की पुस्तकों के विज्ञापन छपते थे। द्वितीय व तृतीय पृष्ठों पर तत्कालीन चीन संग्राम, बुवर संग्राम, रूस-जापान युद्ध (१९०५) व स्थानीय समाचार छपते थे। चौथे व पाँचवें पृष्ठ पर एक वेदमन्त्र से ईश्वर-प्रार्थना के पश्चात् आध्यात्मिक विषय पर एक लेख, 'सम्पादक के नाम पत्र' छपता था। छठे व सातवें पृष्ठ पर आर्यजगत् के विविध लघु समाचार प्रकाशित होते थे।

(३) पत्र में राँची, लोहरदगा, दक्षिण हैदराबाद, नागधारा, नवाबगंज, उन्नाव, हरदोई, भरौंच, कालपी, जवलपुर, आगरा, देहरादून, नजीवाबाद, करियागई (ज़िला वदायूँ), होशंगाबाद व अलीगढ़ इत्यादि आर्यसमाजों के उत्सव-समाचार प्रकाशित होते थे।

(४) २७ मई १९०५ ई० के आर्यावर्त्त के अनुसार कन्या महाविद्यालय जालन्धर की स्थापना १४ दिसम्बर १८९० ई० को हुई थी। तत्कालीन भवन का मूल्य दस हजार रुपया था। स्त्री-पुरुष अध्यापकों की संख्या सात थी। इनमें १३२ अविवाहित, ३ विवाहित एवं ३ विधवाओं सहित कुल १३८ छात्राएँ पढ़ती थीं। यह विद्यालय की १९०३ ई० की रिपोर्ट में छपा था।

(५) २२ दिसम्बर १९०० ई० के 'आर्यावर्त्त' के अनुसार श्रीमती प्रतिनिधि सभा पश्चिम-उत्तर अवध के मन्त्री मुन्शी नारायणप्रसाद (महात्मा नारायण स्वामी) ने नजीवाबाद आदि आर्यसमाजों के आरोपों पर सभा के उपदेशक पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) को धन गवन करने के आरोप पर उनके पद से हटा दिया था। इसके प्रतिवादस्वरूप मंगलदेव संन्यासी एवं आगरा आर्यसमाज के उपमन्त्री के बृहत् वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं।

(६) 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम संस्करण के प्रकाशक राजा जयकृष्णदास के २७ एप्रिल १९०५ को हुए निधन पर शोक प्रकट करते हुए २० मई १९०५ के "आर्यावर्त्त' में छपा है कि १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम में जयकृष्णदास एवं उसके भाई घनश्यामदास चतुर्वेदी ने अंग्रेजों का साथ दिया। घनश्यामदास विद्रोहियों के हाथों मारे गये और जयकृष्णदास को इसके बदले भूमि एवं प्रथम श्रेणी की डिप्टी कलेक्टरी का पद मिला। योग्यता से कार्य करने के कारण उन्हें राजा एवं सी० एस० आई० (C.S.I.) की उपाधि मिली। आप परोपकारिणी सभा के प्रारम्भिक २३ सदस्यों में से एक थे। दिसम्बर १८९८ में उनकी कोठी पर परोपकारिणी की बैठक हुई थी।

(७) महारानी विक्टोरिया, मैक्समूलर, श्री माधव गोविन्द रानाडे एवं महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के निधन-समाचार विस्तार से छपे हुए हैं।

(८) १२ अगस्त १९०५ के 'आर्यावर्त्त' के अनुसार डी० ए० वी० लाहौर के प्राचार्य लाला हंसराज जी के अतिरिक्त निम्नलिखित ५ प्राध्यापक भी केवल ७५ रु० एवं भोजन पर सेवा-कार्य करते थे—(१) लाला गोकुलचन्द एम० ए० (अंग्रेजी), श्री साईंदास एम० ए० (विज्ञान), श्री दीवानचन्द एम० ए० (दर्शन,) श्री परमानन्द एम० ए० (इतिहास) एवं श्री रामचन्द्र एम० ए० (हेडमास्टर, स्कूल विभाग)।

(९) १२ अगस्त १९०५ के अंक की सम्पादकीय टिप्पणी में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा की प्रशंसा की गई है। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उन भारतीयों को छात्रवृत्ति देने की घोषणा की थी जिनका उद्देश्य ब्रिटेन में पढ़ने के वाद सरकारी नौकरी न करके अपना निजी स्वतन्त्र व्यवसाय करने का हो। परतंत्रता के समय भारतीयों के स्वाभिमान एवं गौरव की रक्षा के लिए उनका कार्य प्रशंसनीय कहा जाएगा।

(१०) **विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रारम्भिक इतिहास**—वर्तमान विहार आर्य प्रतिनिधि के वार्षिक प्रतिवेदनों, आर्य डाइरेक्टरी के पृष्ठ ५४ और स्व० इन्द्र विद्यावाचस्पति कृत 'आर्यसमाज का इतिहास' पृष्ठ २८३ के अनुसार विहार-बंगाल संयुक्त आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १८९९ ई० में दानापुर के उत्सव के अवसर पर हुई। आर्यसमाज राँची में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त स्थापना-वर्ष सर्वथा ग़लत है। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं :

(क) आर्यसमाज राँची की अन्तरंग सभा ने ८ अक्टूबर १८९७ ई० को एक प्रस्ताव पारित कर प्रतिनिधि सभा से अनुरोध किया था कि वह 'आर्यावर्त्त' समाचारपत्र के संस्थापक व मालिक श्री महाबीरप्रसाद से अनुरोध करें कि वे अपना 'आर्यावर्त्त' पत्र सभा को दान दे दें।

(ख) १२ जनवरी १९०० ई० के साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' के अंक के अनुसार १८९६ ई० में आरा (शाहावाद जिला) में प्रतिनिधि सभा के वार्षिकोत्सव का उल्लेख है। १८९७ ई० में २५ और २६ दिसम्बर को प्रतिनिधि सभा का गया में वार्षिकोत्सव हुआ था। इसके प्रस्ताव संख्या ४ के अनुसार वैदिक धर्म-प्रचारार्थ २४०० रु० एकत्र करने का निश्चय हुआ था, जिसमें महावीरप्रसाद (मुजफ्फ़रपुर) २०० रु०, आर्यसमाज आरा १५० रु०, वाँकीपुर १०० रु०, मुंगेर १०० रु०, वावू लक्ष्मी नारायण (गया) १०० रु०, दानापुर समाज ५० रु० और आर्यसमाज राँची ने २५० रु० वार्षिक देने का निश्चय किया था।

(ग) तत्कालीन प्रतिनिधि सभा के मन्त्री ठाकुर गदाधरसिंह ने १६ फरवरी १८९८ ई० को आर्यसमाज फर्रुखावाद के मन्त्री को उनके पत्र के उत्तर में लिखा था कि सन् १८९८ ई० तक निम्नलिखित दस आर्यसमाजें सभा से सम्वन्धित थीं—(१) कलकत्ता, (२) दानापुर, (३) आरा, (४) वाँकीपुर, (५) मुंगेर,

(६) बाढ़, (७) विहार, (८) लोहरदगा (६) छपरा, और (१०) रांची।

प्रतिनिधि सभा द्वारा समाजों के नाम प्रेषित परिपत्रों के अनुसार सन् १६०० ई० तक आर्यसमाजों की संख्या १० से १६ हो गई। इनके नाम निम्न हैं— (११) दार्जीलिंग, (१२) रानीगंज, (१३) पटना शहर, (१४) नौबतपुर, (१५) खगौल, (१६) कोंघवा, (१७) हसनपुरा, (१८) मनेर और (१६) सीवान।

२८ फरवरी १६०२ तक प्रतिनिधि सभा से (२०) हाजीपुर (२१) बेला, और (२२) आसनसोल की समाजें भी सम्बन्वित हो गईं। इससे यह संख्या वढ़कर कुल २२ हो गई।

वर्त्तमान में आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा प्रकाशित मासिक 'आर्य संसार' के सम्पादक प्रो० उमाकान्त उपाध्याय के अनुसार दार्जीलिंग आर्यसमाज अपना स्थापना-वर्ष १८८२ ई० मानता है। तदनुसार १६८२ ई० में इसने अपना स्थापना शताब्दि-वर्ष भी मनाया था। ऐसी स्थिति में यह विस्मयजनक है कि सन् १८६८ ई० में तत्कालीन प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित समाजों में दार्जीलिंग का नाम नहीं है। मेरे अनुमान से यह सम्भव है कि दार्जीलिंग समाज अपनी स्थापना के बाद निष्क्रिय व मृत समाज हो गया हो, अतः १८६८ ई० में उसका नाम सम्बन्धित समाजों की सूची से हट गया हो। प्रतिनिधि सभा द्वारा २४-१२-१८६६ ई० को दार्जीलिंग समाज को पंचमांश प्रेषित करने के लिए परिपत्र भेजा गया था। इससे प्रतीत होता है कि १८६६ ई० में दार्जीलिंग समाज सक्रिय हो गया था। एक दूसरा उदाहरण लें। रांची जिले के लोहरदगा समाज का नाम १८६८ ई० की सम्वन्धित समाजों की सूची में है। साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' में ५ जनवरी १६०१ ई० के अंक में लोहरदगा समाज के चौथे उत्सव के आयोजन का भी उल्लेख है। पर कुछ वर्षों के पश्चात् यह समाज निष्क्रिय हो गया। सन् १६३२ से लोहरदगा में समाज का पुनर्गठन हुआ और लोहरदगा समाज इसे ही अपना स्थापना-वर्ष वतलाता है।

(घ) सम्पादकाचार्य पण्डित रुद्रदत्त जी १ फरवरी १८६८ को विहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से ४० रु० मासिक पर उपदेशक नियुक्त हुए। उन्हें केवल एक मास का वेतन दिया गया। प्रतिनिधि सभा के मन्त्री द्वारा ६ मई १८६८ को पण्डित भीमसेन शर्मा (इटावा) को लिखे पत्रानुसार पण्डित रुद्रदत्त जी प्रेस खोलने की धुन में कानपुर चले गये। १ दिसम्बर १६०० ई० के 'आर्यावर्त्त' के अनुसार पण्डित रुद्रदत्त जी ने पटना से 'भारतरत्न' समाचारपत्र तथा 'सरपंच' नामक हास्यरस का साप्ताहिक पत्र निकाला था। इसका वार्षिक मूल्य दो रुपये था। नवम्बर १८६६ में पण्डित रुद्रदत्त जी साठ रुपये मासिक पर पुनः प्रतिनिधि सभा के उपदेशक नियुक्त हुए। उस समय आर्यसमाज के उपदेशकों को प्रचार-कार्य के अतिरिक्त धन-संग्रह भी करना पड़ता था। ८ दिसम्बर १६०० के 'आर्यावर्त्त'

के अनुसार प्रतिनिधि सभा के कोष में पर्याप्त धन-संग्रह न कर पाने पर उन्होंने लिखा—

सूखा शंख बजावे दीपा,
बे-पानी के गोबर लीपा।

प्रतिनिधि सभा द्वारा धन-संग्रह के लिए पुनः प्रयत्न करने का आग्रह करने पर उन्होंने लिखा—

सब गुण अवगुण हो गये,
जहाँ कहाँ कछु लाव।

वस्तुतः उन्होंने तत्कालीन उपदेशकों की स्थिति का सही चित्रण किया है।

(ङ) स्व० शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ' बिहार के दरभंगा जिलान्तर्गत ग्राम चिहुँटा, पोस्ट कमतौल के निवासी थे। आपने 'वेदतत्त्व प्रकाश ग्रंथमाला' के अन्तर्गत त्रिदेव निर्णय, ओंकार निर्णय, श्राद्ध निर्णय आदि पुस्तकें लिखी हैं। आपने छान्दोग्योपनिषद् और वृहदारण्यकोपनिषद् का भी भाष्य किया है। आप १८९४ से १८९७ ई० तक बाँकीपुर (पटना) में, १८९८ से १९०२ ई० तक राँची में, १९०३ से १९०६ ई० में अजमेर, तदनन्तर पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के उपदेशक हुए। आप गुरुकुल काँगड़ी के वेदाध्यापक थे। पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञानुसार सद्धर्म प्रचारक प्रेस से प्रकाशित 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' पुस्तक के प्रथम संस्करण (सन् १९०९ ई०) की भूमिका के पृष्ठ ३८ एवं ३९ में आपने लिखा है कि श्री बालकृष्ण सहाय १८९८ ई० के पूर्व बिहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एवं बाँकीपुर-निवासी श्री मिथिलाशरणसिंह इसके मन्त्री थे। आपने अपने राँची-प्रवास में साप्ताहिक 'आर्यावर्त्त' में वैदिक विषयों पर कई लेख लिखे थे। इनमें 'मुक्ति से पुनरावृत्ति', 'प्राण-प्रतिष्ठा', 'श्रीमद्भागवत और मूर्ति-पूजा', 'भागवत और महादेव' नामक लेखों के प्रचार की आवश्यकता है। उपर्युक्त लेखों को मैंने 'आर्यावर्त्त' पत्र से प्रतिलिपि किया हुआ है। सन् १९०० ई० से १९०७ ई० तक राँची समाज द्वारा संचालित वेद-विद्यालय में स्व० शिवशंकर जी प्रथम शिक्षक थे।

उपर्युक्त ५ प्रमाणों से स्पष्ट है कि बिहार-बंगाल आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना १८९९ ई० में दानापुर के उत्सव में न होकर, इसके पूर्व सम्भवतः सन् १८९४ ई० या १८९५ ई० में हुई थी।

(११) ८ दिसम्बर १९०० ई० के 'आर्यावर्त्त' के अनुसार बिहार और बंगाल में आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में स्वर्गीय तेजनारायणसिंह बहादुर, बाबू महावीरप्रसाद, माधोलाल, चूबलाल, द्वारकानाथ और मास्टर जनकधारीलाल इत्यादि प्रतिष्ठित व वयोवृद्ध लोग थे। 'आर्यावर्त्त' पत्र वैदिक सिद्धान्तों के मण्डन और वेद-विरोधी विचारों के खण्डन के लिए सदा उद्यत रहता था। उस काल में

'सनातन धर्म गज़ट', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'ब्राह्मण सर्वस्व', 'प्रयाग प्रवासी', 'मोहिनी', 'विहारबन्धु', 'वंगवासी' और मुसलमानों के उर्दू पत्र 'अहले-हदीस' को मुँहतोड़ उत्तर इसने दिया था; हंसमत के हंसा बाबा की पोलें खोली थीं और पण्डित भीमसेन शर्मा के वैदिक सिद्धान्तों और आर्यसमाज के विरुद्ध लेखों का करारा उत्तर इसने दिया था। दिल्ली के पौराणिक महामण्डल और उसके सम्मुख आर्यसमाज की असाधारण सफलता के समाचार २६ सितम्बर, १३, २० और २७ अक्टूबर १६०० के 'आर्यावर्त्त' के अंकों में विस्तार से छपी हैं।

आर्यसमाज कंडेल (जिला अजमेर) का पौराणिकों से शास्त्रार्थ-विवरण ३१ दिसम्बर १६०४ ई० के अंक में छपा है। २५ जून, २ और ६ जुलाई १६०४ के अंकों में आर्यसमाज नगीना, ज़िला विजनौर (उत्तर प्रदेश) और अहले-इस्लाम के बीच इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) पर हुए शास्त्रार्थ का विवरण है। इस शास्त्रार्थ में मुसलमानों की ओर से १२० मौलवी थे और आर्यसमाज की ओर से मास्टर आत्माराम, पण्डित भगवानदीन मिश्र (प्रधान, श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा), स्वामी योगेन्द्रपाल, स्वामी दर्शनानन्द, मुन्शी गिरधारीलाल, ठा० गिरवरसिंह, पण्डित मुरारीलाल जी प्रभृति आर्य विद्वान् थे। मास्टर आत्माराम जी ने ७० प्रश्न इलहाम-सम्बन्धी पूछे थे, जिनमें से केवल २२ प्रश्नों के उत्तर मौलवी सनाउल्ला ने दिये। मुसलमानों की ओर से केवल तीन प्रश्न वेद-सम्बन्धी किये गये थे।

वस्तुतः पत्र के प्राप्त अंकों के अध्ययन से स्पष्ट है कि १६ वर्षों तक आर्य-भाषा में यह साप्ताहिक प्रख्यात रहा। आर्यसमाज के तत्कालीन इतिहास के संकलन में इस समाचारपत्र से विशेष सहायता मिल सकती है। □

सम्भवतः १६७८ में मैंने आर्यसमाज राँची में पाँच दिन वेद-प्रवचन किये थे। उस समय श्री दयाराम जी पोद्दार ने मुझे आर्यावर्त्त की पुरानी फाइलें दिखाईं। मुझे उसमें कई लेख अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक लगे। मैंने श्री पोद्दार जी से प्रार्थना की कि इन लेखों की नकल कराकर मुझे भेज दें तो मैं 'वेदप्रकाश' में छाप दूँगा। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उन्होंने मेरे द्वारा इच्छित सभी लेखों की नकल करके भेज दी। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। वेदप्रकाश के पाठक इन लेखों का रसास्वादन करें। शेष लेख आगामी अंक में दिए जाएँगे।

—जगदीश्वरानन्द

मिथिला देश-निवासी

पण्डित शिवशंकर शर्मा की लेखचतुष्टी

१. मुक्ति से पुनरावृत्ति

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ।।

(छान्दोग्य उपनिषद् ३।११।२)

इस लेख की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु बहुत अज्ञानी पुरुष वैदिक सिद्धान्त के ऊपर पुनः-पुनः हास्य किया करते हैं, इस कारण कुछ उत्तर देना ही पड़ता है। यदि केवल अज्ञानी-मात्र में ही यह दोष रहता तो उपेक्षणीय था, परन्तु उनके साथ-साथ कभी-कभी संस्कृतज्ञ मनुष्य भी तदनुकूल ही वितण्डावाद आरम्भ करते हैं। यद्यपि ये वैतण्डिक और दुराग्रहग्रस्त जीव मेरी क्या, साक्षात् ब्रह्माजी की भी एक न सुनेंगे और न मानेंगे, तथापि मैं अपने आर्य भाइयों के सन्तोषार्थ और उनके अवलोकनार्थ इस लेख को प्रकाशित करता हूँ। उक्त वचन के ऊपर भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य जी कहते हैं—

न वै तत्र यतोऽहं ब्रह्मलोकादागतः,
तस्मिन् नैव तत्रैतदस्ति………इत्यादि।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मलोक से आया हुआ जीव ब्रह्मलोक का वर्णन करता है। यहाँ पर श्री शंकराचार्य जी स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं कि "ब्रह्मलोकाद्+आगतः" ब्रह्मलोक से आया हुआ पुरुष। यहाँ पर विवश होकर श्री शंकराचार्य जी को भी लिखना और मानना पड़ा है कि ब्रह्मलोक से जीव लौटकर आते हैं। यदि ऐसा न मानते तो इस प्रकरण की कदापि भी संगति न लगती और न कुछ अर्थ ही निकलता। इस हेतु से श्री शंकराचार्य को भी स्वीकार करना पड़ा कि मुक्ति से आदमी अवश्य लौटते हैं।

यदि कोई कहे कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति को शंकराचार्य जी मुक्ति ही नहीं मानते, अतः उनके इस कथन में कोई दोष नहीं—यह बात कोई अनभिज्ञ ही कह सकता है, क्योंकि येन-केन-प्रकारेण ब्रह्मप्राप्ति ही शांकरी मुक्ति है, दूसरी नहीं। क्योंकि, यदि आप प्रथम अविद्यावश अपने को बद्ध समझते थे, अब ज्ञान होने पर

अपने को साक्षात् ब्रह्म समझने लगे, इस दृष्टि से भी यदि विचार करें तो येन-केन-प्रकारेण ब्रह्मप्राप्ति ही मुक्ति है, यही सिद्धान्त श्री शंकर को सिद्ध होगा।

यहाँ इसपर विशेष विवादोत्थापन न करके केवल श्री शंकराचार्य जी के शब्दों के ऊपर विचारार्थ विनय करते हैं—

"ब्रह्मलोकाद् + आगतः"

यह पद बहुत ही सरल, विशदार्थक और निर्विवाद दीखता है। अब जो श्री शंकराचार्य जी को मानते हैं, उन्हें कदापि भी वैदिक सिद्धान्त के ऊपर सन्देह नहीं करना चाहिए, और यह उपनिषद् का वचन है, इस हेतु भारतवासी-मात्र को स्वीकार करना समुचित होगा कि मुक्ति से जीव लौट आते हैं। उस पूर्ववचन का अर्थ यही है।

यह वचन छान्दोग्य उपनिषद्, तृतीय प्रपाठक, एकादश खण्ड का है। इस तृतीय प्रपाठक में मुक्त पुरुषों का वर्णन है। यहाँ भी स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है कि कौन जीव कितने दिन मुक्तावस्था में रहते हैं; उनकी आनन्दावस्था कैसी होती है, इत्यादि का भी वर्णन मिलता है। इसी प्रसंग में कोई मुमुक्षु मुक्ति से आये हुए पुरुष से पूछता है कि ब्रह्मानन्द कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में वह 'ब्रह्मलोकात् + आगतः' पुरुष कहता है कि **(तत्र)** उस ब्रह्मानन्द में **(न वै)** जो कुछ तुम पूछते हो सो सब नहीं है, अर्थात् वहाँ क्लेश का नाम नहीं है, क्योंकि सब दुःख का कारण काल [समय] है, सो काल का कर्त्ता सूर्य **(न)** नहीं **(निम्लोच)** अस्त होता है और न **(कदाचन)** कदाचित् **(उदियाय)** उदित ही होता है, अर्थात् काल वा समय जिससे सुख-दुःख है उसके जनक का ही अभाव है, फिर वहाँ सुख वा दुःख कहाँ से होगा? अब आगे वह ब्रह्मलोकाऽऽगत पुरुष विश्वासार्थ एक प्रकार से शपथ करता है यथा **(देवाः)** हे जिज्ञासु पुरुषो! **(तेन सत्येन)** उस सत्य से **(ब्राह्मणा)** ब्रह्म से **(मा + अहम् + विराधिषि)** मैं विरुद्ध न होऊँ, अर्थात् मैं जो कुछ वर्णन करता हूँ वह यदि मिथ्या हो तो मुझे ब्रह्म की प्राप्ति न होवे, अर्थात् जो कुछ वर्णन करता हूँ हे विद्वानो! उसे सत्य मानो। यहाँ 'अहं' शब्द के प्रयोग से साफ हो जाता है कि ब्रह्मलोक (मुक्ति) से आया हुआ पुरुष निज अनुभव का वर्णन करता है।

अब अपने पुराणों के भी प्रमाण सुनो—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णम्। सहस्रं त्वाभिमानिकाः बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।। पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः। पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।।

(वायुपुराणे)

अर्थ—"जो पूजक इन्द्रियों में भगवान् की पूजा करते हैं, वे **(इह)** इस मुक्ति में **(दश मन्वन्तराणि)** दश मन्वन्तर **(तिष्ठन्ति)** निवास करते हैं और जो

(भौतिकाः) पृथिवी, अप्, तेज आदिकों से बनी हुई मूर्तियों के पूजक हैं, वे **(शतं पूर्णम्)** एक सौ मन्वन्तर मुक्ति में रहते हैं, **(अभिमानकाः)** अभिमानी अर्थात् अहंकारी, अर्थात् अपने को ही ब्रह्म मान 'अहं ब्रह्मास्मि' ध्यान लगानेवाले **(सहस्रम्)** सहस्र मन्वन्तर मुक्ति में आनन्द करते हैं, **(बौद्धाः)** बुद्धि की भावना करनेवाले दस सहस्र मन्वन्तर मुक्ति में रहते हैं, **(अव्यक्तचिन्तकाः)** प्रकृति के पुजारी शत सहस्र मन्वन्तर अर्थात् लक्ष मन्वन्तर मुक्त-अवस्था में रहते हैं और जो उपासक निर्गुण पुरुष की उपासना करनेवाले हैं उनकी **(कालसंख्या न विद्यते)** कालसंख्या नहीं है, अर्थात् ब्रह्मोपासक अनेक कल्प-कल्पान्तर तक मुक्त-अवस्था में रहते हैं।"

हे पौराणिक भाइयो ! इन पूर्वोक्त वचनों पर ध्यान दो। ये वचन तो आपके ही घर के हैं। सच बात तो यह है कि आपके मुखारविन्द से जो बात निकल गई, वह तो ब्रह्मवाक्य हो गई, अब कदापि भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त इन **वक्ष्यमान** विषयों पर ध्यान दीजिये—

(१) पुराणों में से आप कोई भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करें कि जिसको मुक्ति मिली हो, परन्तु यहाँ लौटकर न आया हो।

(२) जब मुक्ति को देनेवाले स्वयं ब्रह्म आपके मतानुसार जन्म ग्रहण करते हैं तो मुक्तिवाले पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करें, इसमें कौन-सी युक्ति-विरुद्ध बात है ?

(३) आपके मतानुसार जो मुक्ति पाकर साक्षात् भगवान् में मिल गवे, अर्थात् जिन्होंने सायुज्य मुक्ति पाई, उनको, जब भगवान् अवतार लेते हैं तो अपने कलेवर से निकालकर कहीं रख आते हैं अथवा अपने साथ लेते आते हैं ? यदि कहो कि अपने शरीरों से उन मुक्त पुरुषों को अलग कर गो लोक आदिक स्थानों में रख आते हैं तो उनकी सायुज्य मुक्ति नहीं रही, यह आपको स्वीकार करना पड़ेगा। यदि अपने साथ ले आए तो भगवान् के जन्म के साथ-साथ उन मुक्त पुरुषों का भी जन्म हुआ, यह स्वीकार करना पड़ेगा। दोनों प्रकार से आप बद्ध हैं।

(४) आप मुक्ति किसको कहते हैं ?

(५) सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, आदि भेद आप मानते हैं या नहीं ?

(६) यदि मानते हैं तो आपके भगवान् जब अवतार लेते हैं तो उन मुक्त पुरुषों की क्या गति होती है ? सामीप्य में वे मुक्त जीव अयोध्या या वृन्दावन में अपने प्रभु की सेवार्थ आते हैं या नहीं ? यदि नहीं आते तो उनकी समीपता कहाँ गई ? यदि आते हैं तो किस प्रकार से आते हैं ? किस प्रकार आपके भगवान् किसी के पुत्र बनते हैं ? उसी प्रकार वे किसी के माता-पिता बनते हैं या नहीं ?

(७) सालोक्य मुक्तिप्राप्त जीवों को अवतार-समय कौन-सा लोक मिलता है ?

(८) जय-विजय भगवान् के द्वारपाल थे, फिर नारद के श्राप से उन्हें तीन बार जन्म क्यों लेना पड़ा ? वह द्वार ब्रह्मलोक का एक भाग था या नहीं ? यदि ब्रह्मलोक का वह द्वार था, अर्थात् उस द्वार का हिसाब ब्रह्मलोक के साथ हो सकता है तो ब्रह्मलोक से जय-विजय को लौटना पड़ा या नहीं ? यदि उस द्वार को ब्रह्म-लोक नहीं मानते तो वह द्वार क्या था ?

(९) नारद जी का तो ब्रह्म के साथ-साथ उठना, बैठना, भाषण, संलाप, हास्य-क्रीड़ा आदि व्यवहार सब-कुछ होता है, फिर ब्रह्मलोक से वे लौट क्यों आते हैं एवं दासी-पुत्रादि उन्हें क्यों बनना पड़ता है ?

(१०) आप प्रलय किसको मानते हैं ? प्रलयकाल में जीवों के कर्मों की समाप्ति होती है या नहीं ? यदि समाप्ति नहीं होती तो पुनः प्रलय कैसे ? यदि समाप्ति होती है तो उस महाप्रलय में सब जीव मुक्त-अवस्था में रहते हैं या नहीं ? और पुनः वही जीव सृष्टि के आदि में शरीर ग्रहण करते हैं या नहीं ?

(११) यदि मुक्त पुरुष कभी सांसारिक दशा में न आवे तो किसी दिन इस संसार का लोप हो जाना सम्भव है या नहीं ?

इस विषय में श्री बादरायण व्यास जी ने अपने वेदान्त-सूत्रों में विशेष रूप से मीमांसा की है। कतिपय वे सूत्र यहाँ दिखलाए जाते हैं, यथा—

विशेषितत्त्वाच्च । (वेदान्त ४।३।८)

भाव यह है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि—

तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु
ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ।।
(६।२।१५)

इस वचन के ऊपर यह विचारणीय है कि पद में कहा गया है कि (**तेषां न पुनरावृत्तिः**) उन लोगों की पुनरावृत्ति नहीं होती। इतने वाक्य से यह सिद्ध होता है कि मुक्त जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु (**तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति**) उन ब्रह्मलोकों में बहुत वर्षों तक निवास करते हैं। इतने अंश से यह प्रतीत होता है कि बहुत दिन तक ब्रह्मलोक में निवास करके पीछे लौट आते हैं। दूसरी बात यह है कि 'ब्रह्मलोकेषु' यह बहुवचन-प्रयोग है। इससे क्या यह अभिप्राय है कि ब्रह्म के लोक अनेक हैं ? उन अनेक लोकों में मुक्त जीव रहते हैं अथवा 'ब्रह्म एव लोकाः ब्रह्मलोकाः' ब्रह्म ही जो लोक-आश्रय-स्थान, उसे ब्रह्मलोक कहना चाहिए। इस अर्थ में भी 'लोक' शब्द में एकवचन ही होना उचित है। पुनः (**तान् वैयुतान्**) उन वैद्युत् पुरुषों को (**मानसः पुरुषः**) मानरहित कर्म (**एत्य**) आकर (**ब्रह्मलोकान् गमयति**) ब्रह्मलोक ले जाता है, अर्थात् बहुत जो पुण्य-संचय है, वह जीवों को ब्रह्मलोक ले जाता है। इतने अंश से भी बहुत शंका उत्पन्न होती है—क्या ब्रह्मलोक इस ब्रह्माण्ड के किसी एक भाग में स्थित है जहाँ पर मुक्त जीव

जाते हैं ? यदि ऐसा मानो तो ब्रह्म की व्यापकता जाती रहती है, क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड ही उसका लोक है और फिर मुक्त जीव बद्ध-समान ही होंगे, क्योंकि उनको एक ही स्थान में रहना पड़ा, इधर-उधर नहीं जा सके तो बद्ध हुए या मुक्त ? फिर उपनिषदों के अनेक स्थलों में कहा गया है कि **"सर्वेषु लोकेषु कामचारा भवन्ति"**—सब लोकों में मुक्त जीव स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले होते हैं।

इससे तो यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मलोक किसी एक स्थान में नहीं है, सर्वत्र ही है। तब उपर्युक्त बात में यह कैसे कहा गया कि मुक्त जीवों को ब्रह्मलोक में कर्म ले जाते हैं। पुनः इसी बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल में कहा गया है कि—

"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (४।४।६)

अर्थात् "जो अकाम, निष्काम, अप्राप्तकाम और आत्मकाम योगी हैं, उनका इन्द्रिय-सहित लिंग-शरीर उत्क्रमण नहीं करता, अर्थात् जो मुक्ति पानेवाले पुरुष हैं वे जब मरते हैं तो उनका लिंग-शरीरसहित आत्मा इधर-उधर कहीं जाता-आता नहीं, किन्तु इस भौतिक शरीर को त्याग वहाँ ही से मुक्ति-सुख के भोग का आरम्भ करता है, क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र ही व्याप्त है" फिर उस मुक्त पुरुष का कहीं जाना-आना क्योंकर हो सकता है ! हाँ, यदि वह मुक्त जीव इस ब्रह्माण्ड में कहीं विचरण करना चाहें तो वहाँ विचर सकते हैं। जैसे अन्य जीव जन्म ग्रहण करने के लिए तत्काल ही उनको कर्मानुसार इधर-उधर जाना पड़ता है, तद्वत् मुक्त जीवों को नहीं। इसी हेतु यहाँ कहा गया कि मुक्त जीवों का लिंगसहित आत्मा उत्क्रमण नहीं करता है। अब देखने से मालूम होता है कि इन दोनों वाक्यों में परस्पर-विरोध है, क्योंकि एक तो यह कहता है कि क्रमशः वह मुक्त जीव ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, जिससे मुक्त जीवों की गति सूचित होती है; और अन्य वाक्य से मुक्त जीवों की गति सूचित नहीं होती है, यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। पुनः छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान में कहा गया है कि—

"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते"(८।१।६)

इस हेतु "**(यथा)** जैसे **(इह)** इस लोक में **(कर्मजितः)** कर्मोपार्जित कर्म से उपार्जित धन-धान्य-पशु आदि **(लोकः)** पदार्थ **(क्षीयते)** क्षीण होता है **(एवमेव)** वैसे ही **(अमुत्र)** उस लोक में **(पुण्यजितो लोकः)** पुण्योपार्जित लोक **(क्षीयते)** क्षीण होता है।" अर्थात् जैसे इस लोक में विविध कर्म के द्वारा उपार्जित धन-धान्य रुपये-पैसे का भोग करने से क्षय हो जाता है, अर्थात् किसी-न-किसी दिन बिलकुल ही घट जायगा, उसी प्रकार विविध पुण्यों के द्वारा उपार्जित जो पुण्यलोक है, उसका भी क्षय होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? इससे यह स्पष्ट होता है कि पुण्यजित जो मुक्त-अवस्था है, उसका भी कभी क्षय होगा। यदि कहो कि मुक्ता-

वस्था पुण्यजित नहीं है, इसलिए उसका क्षय नहीं होगा, तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तावस्था को भी तो पुण्य ही प्राप्त कराते हैं, इसीलिए वह भी पुण्यजित ही कहलाएगा । अन्यथा पुण्यजित लोक किसको मानोगे ? यहाँ 'पुण्यजित' शब्द से मुक्तावस्था ही लक्षित होती है। यदि कहो कि मुक्तावस्था केवल ज्ञानार्जित है, पुण्यजित नहीं, तो यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान तुम किसको कहते हो ? क्या ज्ञान पुण्य है या पाप है ? यदि दोनों में से कोई नहीं है तो उसका फल भी कुछ नहीं होना चाहिए। इस हेतु ज्ञान को भी पुण्य ही कहना पड़ेगा। यदि कहो कि पुण्य शब्द से यहाँ विविध यज्ञ का अभिप्राय है तो क्या ज्ञान-यज्ञ इन यज्ञों से बाहर समझा जाएगा ? यदि कहो कि केवल विविध द्रव्यों से जो यज्ञ होता है उसी यज्ञ का यहाँ अभिप्राय है, तो इस संकोच करने में प्रमाण क्या ? और ईश्वर की उपासना-स्तुति आदि कर्माङ्ग के अतिरिक्त कर्म कहलावेगा या नहीं ? इसी प्रकार श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि पुण्य कहलावेंगे या नहीं ? तुम्हारा ज्ञान इन्हीं श्रवणादिकों के अधीन है या अन्य किसी के ? यदि कहो कि श्रवणादिक के, तो यह प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि श्रवणादिक क्या है ? अन्त में कहना पड़ेगा कि श्रवणादिक भी पुण्य हैं, तो यह सिद्ध हो गया कि मुक्ति भी पुण्यजित है और जब मुक्ति पुण्यजित है तो उसका क्षय भी सिद्ध हुआ।

अब पूर्वापर वाक्यों का विचार करो! एक वाक्य कहता है—**तेषां न पुनरावृत्तिः**—उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, और दूसरा वाक्य कहता है कि—**पुण्यजितो लोकः क्षीयते**—पुण्यजित लोक अर्थात् मुक्ति का क्षय होता है। अब दोनों में क्या मन्तव्य है ? पूर्व-हेतुओं से और उपनिषदों के प्रमाणों से यह मानना पड़ेगा कि पुनरावृत्ति होती है और,

"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्त्वाच्च ।" (वेदान्त ४।४।१७)

इस सूत्र से यह सिद्ध किया गया है कि मुक्त जीवों का ऐश्वर्य स्वतन्त्र होता है तो उसको इच्छा पर जन्म लेना भी है, इससे यह सिद्ध हुआ कि मुक्त जीव जब चाहें तब लौट आ सकते हैं। उनकी स्वतन्त्रता छान्दोग्यपनिषद्, अष्टम प्रपाठक, द्वितीय खण्ड में दिखलाई गई है और उनके संकल्प भी दिखलाए गए हैं, जैसे—

"स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति,
तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ।"

वह मुक्त पुरुष पितरों की जब इच्छा करता है, तब उसके संकल्पमात्र से पितर उपस्थित होते हैं और उन पितरों के साथ आनन्दभोग करता है। इसी प्रकार—

अथ यदि मातृलोककामो भवति,……
अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति,……
अथ यदि स्वसृलोककामो भवति,……
अथ यदि सखिलोककामो भवति,……

इत्यादि
... ...

यं यमन्तमभिकामो भवति,
यं कामं कामयते सोऽस्य
संकल्पादेव समुत्तिष्ठति,
तेन सम्पन्नो महीयते ।।

अर्थ—"वह मुक्त जीव क्या माताओं, क्या भ्राताओं, क्या बहिनों, क्या मित्रों, क्या अन्य वस्तुओं की कामना करे ? अर्थात् जिस-जिस वस्तु का वह अभिलाषी हो, वह-वह पदार्थ उस योगी को संकल्पमात्र से प्राप्त होता है ।" इससे यह सिद्ध होता है कि यदि मुक्त जीव अपनी इच्छानुसार जन्म लेना चाहे तो जन्म भी ले सकता है । इस प्रकार मुक्त जीवों का लौटना सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है। इसके ऊपर भी पुनः किसी को शंका होगी तो पुनः विस्तारपूर्वक इसका वर्णन होगा। ओम् शम् !

२. प्राण-प्रतिष्ठा

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ।।

(अथर्ववेद काण्ड २, अध्याय ३, सूक्त १३, मन्त्र ४)

पद—**एहि, अश्मानम्, आतिष्ठ, अश्मा, भवतु, ते, तनूः, कृण्वन्तु, विश्वेदेवाः, आयुः, शरदः, शतम् ।**

यद्यपि आजकल 'देशहित-चिन्ता' विषय पर चिन्तन कर रहे हैं, तथापि अनेक मित्रों की प्रेरणा से वेद के दो-एक मन्त्रों का विचार करना पड़ा है, पश्चात् उसी विषय पर लिखेंगे। 'आर्यावर्त्त' पत्र का यह कर्त्तव्य है कि धर्म-सम्बन्धी विषय का प्रथम निर्णय करे। इस समय अनेक अज्ञानी मनुष्य वेद से मूर्तिपूजा को सिद्ध करने के लिए बहुत चेष्टा करते हैं और अपने पक्ष की पुष्टि में दो-एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं। आज हम उन्हीं दो-एक मन्त्रों के अर्थ प्रकाशित कर देते हैं ताकि लोगों को विचार करने का अवसर मिले और यह भी मालूम हो जाए कि किस प्रकार धूर्त्त लोग सर्वसाधारण जन को ठगते हैं।

उपरिष्ट जो मन्त्र है, उसको प्राण-प्रतिष्ठा-सम्बन्धी मन्त्र समझते हैं और वे इस प्रकार अर्थ करते हैं कि हे भगवन् (एहि) आओ ! (**अश्मानम् आतिष्ठ**) पत्थर में ठहरो। हे भगवन्, (**ते तनूः**) तेरा शरीर (**अश्मा भवतु**) पत्थर का होवे। और (**ते आयुः**) तेरी आयु को (**विश्वेदेवाः**) सब देव मिलकर (**शरदः शतम्**) सौ

वर्ष (कृण्वन्तु) करें अर्थात् देवों के आशीर्वाद से हे भगवन्, तेरी आयु एक सौ वर्ष की होवे।

समीक्षा—यदि यह मन्त्र प्राण-प्रतिष्ठा-सम्बन्धी होता तो आयु की अवधि-विवेचना नहीं की जाती। यदि कहो कि 'शत' शब्द 'बहु' वा 'अनेक'-वाचक है, तथापि ठीक नहीं, क्योंकि तब भी तो सीमाबद्ध ही तुम्हारा ईश्वर हो जाता है और उसके बाद प्रतिष्ठित भगवान् का नाश भी मानना पड़ेगा, क्योंकि मान लो शत का अर्थ 'अनेक सहस्र' है, फिर अनेक सहस्र के बाद तो नाश ही मानना पड़ेगा और यह अर्थ तुम्हारे सिद्धान्त के भी विरुद्ध है।

अब दूसरी बात इसमें यह कि सब देव इसकी एक सौ वर्ष की आयु करें। क्या ब्रह्म की आयु को देव लोग करनेवाले हैं? क्या देवों के आशीर्वाद के भरोसे आपके ब्रह्म हैं? क्या ब्रह्म की आयु में भी विघ्न होने की सम्भावना थी जिसकी निवृत्ति के लिए यहाँ प्रार्थना की जाती है? इत्यादि अनेक कारणों से यह मन्त्र प्राण-प्रतिष्ठा-सम्बन्धी नहीं हो सकता।

यथार्थ में यह मन्त्र विवाहपरक है। कन्या जब शिला के ऊपर आरोहण करती है, उस समय उस कन्या को सब उपस्थित विद्वान्‌गण आशीर्वाद देते हैं और इसका अर्थ यह होता है—हे कन्ये! (**एहि**) आओ (**अश्मानम् आतिष्ठ**) इस शिला के ऊपर खड़ी हो (**ते तनूः**) तेरा शरीर (**अश्मा भवतु**) जैसे शिला नीरोग और सुदृढ़ होती है और इसमें शीघ्र विकारादि दुर्गुण उत्पन्न नहीं होते हैं वैसा ही तेरा शरीर होवे। और (**ते आयुः**) तेरी अवस्था को (**विश्वेदेवाः**) उपस्थित विद्वान्‌गण (**शरदः शतम्**) सौ वर्ष की (**कृण्वन्तु**) करें अर्थात् विद्वान् लोगों के आशीर्वाद से तेरी आयु की परम वृद्धि होवे।

एतत् सदृश ही मन्त्र विवाह-पद्धति में विद्यमान है, वह यह है कि

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।

पद—**आरोह, इमम् अश्मानम्, अश्मा इव, त्वम् स्थिरा भव।**

अर्थ—हे वरारोहे! सुन्दरी! (**इमम् अश्मानम्**) इस शिला के उपर (**आरोह**) चढ़ो और (**अश्मा इव**) प्रस्तर-समान (**त्वं**) तुम (**स्थिरा भव**) स्थिरा होवो।

अब आप लोग विचार सकते हैं कि इन दोनों मन्त्रों के भाव एक-से प्रतीत होते हैं वा नहीं? इस कारण प्रथम मन्त्र का प्राण-प्रतिष्ठा में विनियोग करना बिल्कुल अज्ञानता है। इन पौराणिकों ने बड़े प्रयत्न और परिश्रम से इस मन्त्र को निकाला था, परन्तु वह कुछ और ही ठहरा। अब प्राण-प्रतिष्ठार्थ जो दूसरा मन्त्र देते हैं, वह यह है—

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञँ समिमं दधातु।
विश्वे देवास ऽ इहमादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ॥—यजु-२।१३॥

पद—**मनः जूतिः जुषताम्, आज्यस्य, बृहस्पतिः, यज्ञम्, इमम्, तनोतु, अरिष्टम्, यज्ञम् सम्, इमम् दधातु, विश्वे देवासः, इह, मादयन्ताम्, ओ३म्, प्रतिष्ठ ॥**

यह यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय का तेरहवाँ मन्त्र है।

इस मन्त्र में **"ओ३म् प्रतिष्ठ"** इस पद को देखने से अज्ञानी लोग प्राण-प्रतिष्ठा में विनियोग करते हैं और इतने पद का यह अर्थ करते हैं कि **(ओ३म्)** हे ईश्वर ! **(प्रतिष्ठ)** इस मूर्ति में आप प्रतिष्ठा करें, अर्थात् इस मूर्ति में आप प्रस्थान करें, इत्यादि अर्थ वे लोग करते हैं। हम प्रथम महीधर के अर्थ को दिखलाते हैं, क्योंकि वे लोग इसे प्रमाण मानते हैं, यथा—

और **(मनः)** सूर्य का मन=चित्त **(आज्यस्य)** घृत का **(जुषतान्)** सेवन करे। मन कैसा है **(जूतिः)** भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों के पदार्थों में गमनशील और **(बृहस्पतिः)** बृहस्पति **(इमम् यज्ञम्)** इस यज्ञ का **(तनोतु)** विस्तार करें। और **(इमम् यज्ञम्)** इस यज्ञ का **(अरिष्टम्)** अहिंसारहित करके **(सन्दधातु)** सन्धान करें और **(विश्वे देवासः)** सब देव **(इह)** इस यज्ञकर्म में **(मादयन्ताम्)** तृप्त होवें। तदनन्तर इस प्रकार प्रार्थित सविता देव **(ओम्)** अंगीकार करते **(प्रतिष्ठ)** हैं। यजमान, समिधादान के लिए जाओ, ऐसी आज्ञा करें। महीधर के शब्द यह हैं—

एवं प्रार्थितः सविता देवः ओं प्रतिष्ठेत्यनुज्ञां प्रयच्छतु।
ओमित्यङ्गीकारार्थः तथास्तु। प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु॥
समिधादानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता
देवो अङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः॥

भाव इसका यह है कि महीधर ने ओंकार का अर्थ 'अंगीकार' किया है, ईश्वर नहीं, और प्रतिष्ठ का अर्थ 'प्रस्थान' किया है, अर्थात् समिधादान-काल (जिस समय अग्निकुंड में समिधाएँ रक्खी जाती हैं, उसे समिधादान-काल कहते हैं) में यजमान की अभिप्रेत यात्रा के लिए प्रेरणा करें।

अब निष्पक्ष होकर विचार लो, महीधर का अर्थ भी तुम्हारे पक्ष का साधक नहीं। अब तुम जो प्राण-प्रतिष्ठा करते हो, वह सब कपोल-कल्पित ठहरी। जब प्राण-प्रतिष्ठा ही वेद से नहीं सिद्ध हुई तो आगे की क्रिया क्योंकर सिद्ध हो सकती है ? तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार भी बिना प्राण-प्रतिष्ठा के पूजा सर्वथा निषेध है। तुम सब को हम चैलेंज देते हैं कि प्रथम वेद से प्राण-प्रतिष्ठा की सिद्धि करो। यदि इसे सिद्ध नहीं कर सकते हो तो तुमको मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये। मूलं नास्ति कुतः शाखा ? हे पौराणिक भाइयो ! यह भी तो सोचो कि जो ईश्वर सब प्राणियों की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाला है उसकी भी प्राण-प्रतिष्ठा तुम करते हो, धन्य है ! तुम्हारे साहस को धन्यवाद है ! तुम ईश्वर के भी ईश्वर हो ! तभी तो तुम्हारी यह दशा हुई है !

प्राण-प्रतिष्ठा का इतिहास

इस प्राण-प्रतिष्ठा की रीति देश में कब से चली ? आप लोगों को अच्छी प्रकार से मालूम है कि जैन सम्प्रदाय प्राय: ईश्वर का अस्तित्व माननेवाला नहीं था। अब मनुष्य तो पूजा-पाठादि के बिना प्राय: रह नहीं सकता। इस नियम के अनुसार प्रारम्भ में विवश होकर ही जैनियों ने मूर्खों को आश्रय देने के लिए तीर्थंकरों की पूजा चलाई। परन्तु मरे हुए पुरुषों में शीघ्र लोगों का विश्वास होना कठिन है, और विश्वास भी हो तो यह कैसे मालूम हो सकता है कि इस प्रतिमूर्ति में जो पुरुष निवास करेगा वह हम लोगों को अवश्य अभीष्ट फल देवेगा ? इस विश्वास की दृढ़ता के लिए जैन विद्वानों ने एक नई रीति निकाली। साधारण मनुष्यों में यह प्रख्यात किया कि योगबल से मृत पुरुषों के प्राण का आह्वान करके मूर्ति में स्थापित कर सकते हैं और उस योगबल से मूर्ति में उस प्राण का प्रभाव कम-से-कम १२ वर्ष तक रहेगा। पुन: १२ वर्ष के अनन्तर मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इस प्रकार बड़े समारोहों के साथ अपने तीर्थंकरों की प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे एवं लोगों को विश्वास होने लगा कि अवश्य इस मूर्ति में, मृत पुरुषों का प्राण आ जाता है। इस प्रकार देश में प्राण-प्रतिष्ठा की रीति प्रचलित हुई। परन्तु जैनियों ने ईश्वर की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की थी, किन्तु वे मृत पुरुषों की प्राण-प्रतिष्ठा किया करते थे। यह किसी तरह से पौराणिकों की अपेक्षा अच्छा था, परन्तु जब जैनियों की नकल पौराणिक लोग करने लगे तो ये उनसे कहीं आगे बढ़ गये। ये ईश्वर की ही प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे ! असल बात यह है कि प्रथम मूर्ख लोगों ने जैनियों की नकल करना आरम्भ किया था। उनके यहाँ तीर्थंकरों की प्राण-प्रतिष्ठा होती थी और इनके यहाँ राम-कृष्ण आदि महात्माओं की प्राण-प्रतिष्ठा होने लगी। आरम्भ में पौराणिकों के यहाँ भी ईश्वर की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती थी, परन्तु ज्यों-ज्यों तीर्थंकरों की महिमा बढ़ती गई त्यों-त्यों राम-कृष्णादि का भी माहात्म्य बढ़ता गया। बढ़ते-बढ़ते वे राम-कृष्णादि साक्षात् ईश्वर ही बन गये। अब भी यदि विचार-दृष्टि से देखा जाय तो ईश्वर की प्राण-प्रतिष्ठा कहीं नहीं होती। किन्तु हठवश आप लोग राम-कृष्णादिकों को ईश्वर मान ईश्वर की प्राण-प्रतिष्ठा होती है, ऐसा कहने लगे हैं। अब कितने ही दोष पौराणिकों के शिर पर चढ़ते जाते हैं, तथापि अपने हठ को वे लोग नहीं त्याग सकते। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं वह हमारे भाइयों को सुबुद्धि प्रदान करें !

३. श्रीमद्भागवत और मूर्तिपूजा

यद्यपि यह विषय न तो रोचक और न अत्युपकारी ही है, क्योंकि अब अज्ञ-से-अज्ञ पुरुष को भी अच्छी प्रकार से मालूम हो गया है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतः प्रस्तर वा मृत्तिका आदि पदार्थों में प्राण-प्रतिष्ठा कर उसका पूजन करना विडम्बनामात्र है। तथापि इसको मैं इस कारण प्रकाशित कर देना चाहता हूँ कि अभी राजस्थान के ब्यावर नामक नगर में गया था, वहाँ उदरंभरि मनुष्य वैदिक सिद्धान्त का खण्डन कर रहे थे। हम लोग पाँच-छः दिवस वहाँ ठहरे, परन्तु कोई सामने नहीं आया। एक दिवस नगर के प्रधान-प्रधान सभ्यगण अपने पण्डितों को लेकर हमारे डेरे पर आये। अन्त में मैंने यह कहा कि पुराणों से भी यदि कोई ईश्वर-मूर्तिपूजा सिद्ध कर दे तो मैं उसे भी स्वीकार कर लूंगा। वे लोग एक पत्र में इस प्रतिज्ञा को लिखवा, दस्तखत करवा, 'अभी उत्तर ले आते हैं', इतना कह वहाँ से चले गये और उस समय उनकी मुख-कान्ति से यह विदित होता था कि अब क्या है, अब तो इसने लिखकर दे दिया है; पुराणों से सैंकड़ों प्रमाण दिखला, मूर्तिपूजा स्वीकार करवा लेवेंगे! परन्तु शोक की वात है कि दो दिन तक मैं प्रतीक्षा करता रहा, कोई भी उत्तर नहीं आया। मालूम हुआ कि उनके पण्डितों में दो पक्ष हो गये। एक तो यह कहता था कि पुराणों का भी अन्तिम सिद्धान्त मूर्ति-निषेधपरक है और दूसरे का कथन था कि मूर्तिपूजा पुराण निषेध नहीं करता है। इस हेतु मेरे पास वे लोग उत्तर नहीं लाये। मेरे आर्य भाइयों ने तव बहुत तरह से कहा कि पुराणों से मूर्तिपूजा-निषेध के विषय में आप अवश्य लेख प्रकाशित कर देवें, ताकि सबों को मालूम हो जाय कि पुराण भी मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। इस कारण से श्रीमद्भागवत पुराण से, जो सबों में शिरोमणि गिना जाता है, कतिपय प्रमाण दिखलाए जाते हैं। आप लोग इन प्रमाणों पर अच्छी तरह विचार करें और सनातनी 'पताका' आदि से भी निवेदन है कि दृढ़ दुराग्रह त्याग इसका उत्तर प्रदान दे, अनुग्रह करें।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥

(भागवत ३।२९।२१)

यह प्रसंग तृतीय स्कन्ध के २९वें अध्याय में वर्णित है। आप लोगों को यह भी मालूम होगा कि कपिलाचार्य भी पुराण के अनुसार महा-अवतार माने गये हैं। इनके मुखारविन्द से ये सब श्लोक कहलाये गये हैं। कपिल भगवान् अपनी माताजी से कहते हैं कि "सर्व का अन्तर्यामी मैं सब प्राणियों में सदा रहता हूँ,

उसकी अवज्ञा करके जो मनुष्य केवल मूर्ति की पूजा करता है, वह तो केवल विडम्बनामात्र है।"

इन श्लोकों का मैं अपना अर्थ नहीं करूँगा। बम्बई के सुप्रसिद्ध हरिप्रसाद भगीरथ जी के यहाँ जैसा अर्थ प्रकाशित हुआ, वैसा ही नकल कर देता हूँ। उपरिष्ठ श्लोक से यही सिद्ध हुआ है कि मूर्तिपूजा केवल बालक-क्रीड़ामात्र है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥

(भागवत ३।२६।२२)

"सर्वप्राणिमात्र में विद्यमान सबका आत्मा, ईश्वर जो मैं हूँ, उसे छोड़कर, जो मनुष्य केवल मूर्तिपूजन करता है, वह अपनी मूर्खता से केवल भस्म में होम करता है।"

इस श्लोक में 'भस्म' पद साक्षात् पड़ा हुआ है। अब आप लोग विचार कर सकते हैं कि जब साक्षात् भगवान् कपिल जी कहते हैं कि मूर्तिपूजा करना क्या है मानो भस्म में होम करना है, तो इससे बढ़कर निषेध का प्रमाण क्या हो सकता है? क्या इस श्लोक का प्रमाण हमारे सनातनी भाई नहीं मानेंगे? क्या अभी तक श्रीमद्भागवत के सुनने-सुनानेवालों की दृष्टि में यह श्लोक नहीं आया है? यदि आया है तो फिर ये लोग मूर्तिपूजा क्यों करते हैं? इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिस कुसंस्कार को इन लोगों ने खूब ज़ोर से पकड़ रक्खा है, उसे कदापि छोड़ना नहीं चाहते। चाहे ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी आकर कह देवें कि यह काम अनुचित है, तब भी ये लोग उसको नहीं छोड़ेंगे; जिसको पकड़ लिया, उसको छोड़ना क्या? दृढ़ता हो तो ऐसी हो!

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे!
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥ (३।२६।२४)

"हे माता! जो सर्वप्राणिमात्र का अपमान करता है, वह चाहे छोटे-मोटे अनेक पदार्थों से, चाहे तन्त्र की रीति से पूजा करे, परन्तु मैं उसपर प्रसन्न नहीं होता।"

आप लोग इस श्लोक पर ध्यान दीजिये। कपिलजी कहते हैं कि जो मूर्ति-पूजा करता है, वह सब का अपमान करता है। भाव इसका यह है कि भगवान् सर्वव्यापक हैं, अर्थात् सबमें विद्यमान हैं। तब एक ही पदार्थ में ईश्वर को मानकर उसको नहलाना, धोना, खिलाना, पिलाना, पंखा आदि करना और अन्य को वैसा न करना, अन्य का अपमान हुआ या नहीं? जब सब को एक ही अधिकार प्राप्त है तो उस अवस्था में सब का आदर बराबर होना उचित है, परन्तु गम्भीर लोग ऐसा नहीं करते। एक पत्थर को तो बड़े सत्कार के साथ सिंहासन पर मन्दिर में स्थापित करते हैं और अन्य पत्थरों से भीत बनाकर उसकी रक्षा करते हैं अथवा उसकी पूजा कदापि नहीं करते हैं, और जैसी दृष्टि स्थापित पत्थर पर रखते हैं

अन्य प्राणियों में वैसी नहीं रखते। इस कारण ये मूर्तिपूजक लोग सम्पूर्ण जगत् के अपमान और निन्दा करनेवाले समझे जाते हैं। कपिल जी का ऐसा कहना बहुत ही उचित है। आप लोग अर्थ में अभी पढ़ चुके हैं कि **तंत्र की कीर्ति से पूजा करे**— इसका अभिप्राय यह है कि यह मूर्तिपूजा यद्यपि जैन धर्म से निकली है, तथापि जैनियों के बाद आर्यों में प्रथम तांत्रिक लोगों ने इसका प्रचार किया। इस कारण मूर्तिपूजा तांत्रिक साधना मानी जाती है।

भागवत बनानेवाले को पूर्ण विश्वास है कि यह प्रथा तांत्रिक है। पुनः सप्तम स्कन्ध में निर्णय किया गया है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को देखना, किसी से द्वेष न रखना, सब का सत्कार करना, ईश्वर की विभूति को उनके बनाये हुए पदार्थों में देखना, और विशेष रूप से मनुष्यों के शरीर में अधिक अंश देखना इत्यादि विचार ही ईश्वर की पूजा है, अन्य पूजा नहीं। यथा—

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेष पुरुषो ह्यसौ ।।७।१४।३७।।
तेष्वेषु भगवान् राजन् तारतम्येन वर्त्तते।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ।।३८।।

मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि और देवता आदि के पुर (शरीर) भगवान् ने रचे हैं और इनमें जीवरूप से भगवान् ही विराजते हैं। अतएव इनका नाम 'पुरुष' कहलाता है ।।३७।।

हे राजन्! पशु-पक्षियों के शरीर की अपेक्षा मनुष्य-शरीर में भगवान् अधिक अंश में विराजे हैं। तासों मनुष्य पूजन करने में पात्ररूप माने जाते हैं, तत्रापि (वहाँ भी) तप आदि के हेतु ज्ञान का जिस-जिसमें अधिक अंश देख पड़े, उस-उस मनुष्य को उत्तम पात्र समझना चाहिए ।।३८।।

इससे आप लोगों को अच्छी तरह मालूम हो गया होगा कि ईश्वर की पूजा का स्थान पात्र है, परन्तु जिसमें ज्ञान आदि अधिक हो वह सबसे उत्तम पात्र है, अर्थात् विद्वान्, ज्ञानी, योगी को सत्कार कर ईश्वर-विषयक कथोपकथन मनुष्य करे और उससे ईश्वर-तत्त्व समझे। पुनः—

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतांनृप।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृताः।।३९।।

प्रथम तो मनुष्यों के शरीर में ही भगवान् की पूजा करने की रीति थी, परन्तु उनमें परस्पर खटपट होने के हेतु अवज्ञा होने लगी, उसे देखकर त्रेतायुग के प्रारम्भ से विद्वानों ने भगवान् की प्रतिमाओं की पूजा करनी नियत कर दी है ।।३९।।

इससे स्पष्ट हो गया कि मूर्तिपूजा वेद-विहित नहीं है। त्रेता के आदि से यह चली है। भागवत बनानेवालों ने मूर्तिपूजा को कहीं भी वैदिक नहीं कहा है। हाँ,

इसका यह विचार है कि त्रेता के प्रारम्भ से मूर्तिपूजा चली है। परन्तु यह विचार इसका इसलिए अशुद्ध है कि भागवतवाले इतिहास से अनभिज्ञ थे। ये तंत्र को भी त्रेता के प्रारम्भ से माननेवाले हैं। पुनः—

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ।।४०।।

"अतएव कितने-एक लोग मूर्ति में ही भगवान् है, ऐसे मानकर उसकी उपासना करते हैं। मूर्ति का पूजन करने पर भी जो मनुष्य दूसरे मनुष्यों से द्वेष करे, उसको यह मूर्ति फलदायक नहीं होती।"

इसका पदार्थ यों है--(**ततः**) तब से (**केचित्**) कोई-कोई (**संश्रद्धाय**) श्रद्धा करके (**सपर्यया**) पूजा-सामग्री से (**हरिम्**) भगवान को (**आर्चायाम्**) मूर्ति में (**उपासते**) उपासते हैं, अर्थात् उपासना करते हैं (**उपास्तापि**) परन्तु मूर्ति उपासित होने पर भी (**पुरुषद्विषां**) पुरुप-द्वेपियों के (**न अर्थदा**) अर्थ देनेवाली नहीं होती।

भाव यह है कि प्रतीक-पूजा का सर्वथा निषेध है। यदि करे भी तो आत्मा के भीतर ही ईश्वर को देख उसे वहाँ ही पूजे। (पुरुषद्विषाम्) जीवात्मा से द्वेष करनेवाले को पुरुषद्विष कहते हैं। जो जीवात्मा ज्ञानी, योगी, सिद्ध-आत्मा है, उसी में परमेश्वर की विभूति देखें, उसी का सत्कार करें, परन्तु ऐसा जो नहीं करता है, किन्तु प्रस्तर आदि की मूर्ति-स्थापना कर उसी को ईश्वर मान पूजता है, ऐसे मूढ़ात्मा का उस पूजा से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता है। अब सनातनी भाई विचारें कि यह मूर्तिपूजा सनातनी कैसे सिद्ध हो सकती है? पूर्व श्लोक में **'त्रेता दिषु हरेरर्चा'** क्रिया में 'कविभिः कृता' इत्यादि पद साक्षात् है और इस श्लोक में 'नार्थदा' पद है, इससे विस्पष्टतया सिद्ध होता है कि मूर्तिपूजा न तो सनातन है और न यह किसी काम की (अर्थदा) है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से किसी की सिद्धि इससे नहीं हो सकती। कहो भाइयो! क्या तुम भागवतको नहीं मानोगे? यदि तुम इसको मानते हो तो अब भी चेतो! अब फिर मूर्तिपूजा को सनातन मत कहा करो।।४०।।

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्टचा धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ।।४१।।

हे राजेन्द्र! जो ब्राह्मण तप, विद्या और सन्तोषपूर्वक भगवान् के शरीररूप वेद का अभ्यास करता है, वह उत्तम पात्र है, ऐसा महात्मा लोग कहते हैं।।४१।।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सदा वेदों के तत्त्वों के अभ्यास में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनमें ही ईश्वर की पूजा करे, किन्तु पत्थर-मिट्टी आदि की मूर्ति बनाकर उनमें कदापि ईश्वर की उपासना न करे। फिर हम नहीं कह सकते कि पौराणिक लोग इतना व्यय करके एक छोटी-सी पुत्तलिका बनाकर बड़े समारोह के साथ मन्दिरों में उसे पधराकर क्योंकर पूजते हैं? क्या उनको कोई विद्वान्

सज्जन पुरुष सत्कार के लिए नहीं मिलते हैं ? भाई देखो, तुम्हारा भागवत क्या कहता है—

किं स्वल्पतपसां नृणामचार्यां देवचक्षुषां प्रह्लादार्चमादिकम् ।।

(भागवत १०-८४।१०)

"केवल तीर्थस्नानादि को तप माननेवाले और प्रतिमा में ही देवदृष्टि रखनेवाले मनुष्यों को आपके दर्शन-स्पर्शन, प्रश्न, नमस्कार व चरण-पूजन आदि की प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं।"

यह वचन श्री कृष्ण महाराज के मुखारविन्द से कहलाया गया है। श्री कृष्णचन्द्र जी ऋषियों से कह रहे हैं। अब पुराण माननेवाले विचार कर सकते हैं, प्रतिमा में देवदृष्टि रखनेवाले मनुष्यों को महात्मा का भी दर्शन-स्पर्शन, प्रश्नादिक नहीं हो सकता है तो भगवान् का दर्शन कब सम्भव है ? ऐसे मन्दबुद्धि पुरुषों को कदापि नहीं। इस वचन से श्रीकृष्ण जी क्या सूचित करते हैं ? अब इस वचन से स्पष्ट अन्य वचन क्या हो सकता है ! क्या यह सिद्ध नहीं करता है कि मूर्तिपूजा कदापि भी नहीं करनी चाहिए ? पुनः—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीःकलत्रादिषु भौम इज्यधिः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्, जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ।।१३।।

'जो लोग वात, पित्त, कफमय शरीर को ही आत्मरूप जानते हैं, स्त्री इत्यादि को अपना ही जानते हैं, मूर्ति को पूज्य समझते हैं और जल को ही तीर्थ समझते हैं; परमतत्त्ववेत्ता पुरुषों को आत्मरूप अपने पूज्य व तीर्थ नहीं समझते, वे मनुष्य बैल से भी अधिक अज्ञानी हैं ।।१३।।

संस्कृत में 'गोखर' पद है। 'खर' शब्द का अर्थ प्रायः आबाल-वृद्ध हिन्दुस्तान में जानते हैं। संस्कृत के टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि "वह पुरुष बैलों के चारा ढोनेवाले गधे के समान है जो मृत्तिकादिक मूर्ति को पूज्य समझता है।" कहिये, अब पुराण कहाँ तक मूर्ति-निषेध करता ? जब इतना कह दिया कि मूर्ति-पूजक गोखर हैं, तब इससे बढ़कर और क्या कहता ! भारत की ऐसी ही दशा है कि पुराण भी क्या करें ! मैं नहीं समझता कि आजकल की धर्ममहामण्डली लोग किस प्रमाण पर इतने फूले बैठे हैं ! हाँ, हठ की बात तो अलग है; हठ ही उन लोगों का एकमात्र आश्रय है और यह कि आज सारा हिन्दुस्तान इस ग्राह के मुख में पड़ा है, इस कारण ही इस पक्ष की जनसंख्या अधिक है; इसका गौरव इनको अवश्य है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अज्ञानता की बात बहुत दिन तक नहीं चल सकती। पुनः—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।४५।।
ईश्वर तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सुच ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।४६।।
अर्चयामेव हरये पूजां य श्रद्धयेहते ।
तद्भक्तेष चान्येषु स भक्तः प्राकृतःस्मृतः ।।४७।। (भागवत ११।१२)

तब हरि योगेश्वर ने कहा कि "सब पदार्थों में जो भगवद्भाव को देखता है, वह उत्तम वैष्णव कहलाता है ॥४५॥ जो मनुष्य ईश्वर में ईश्वरभक्तों के साथ मैत्री, मूर्खों पर कृपा और शत्रुओं पर उपेक्षा रक्खे, वह मध्यम वैष्णव कहलाता है ॥४६॥ जो पुरुष श्रद्धा रखकर मूर्ति में ही भगवान् की पूजा करे, परन्तु भगवान् के भक्तों की पूजा नहीं करे और दूसरों की तो बिल्कुल ही नहीं करे, वह पुरुष प्रकृत यानि निकृष्ट भक्त है ॥४७॥

यहाँ तीनों प्रकार के भक्तों का वर्णन है। उत्तम भक्त तो वह है जो ईश्वर को सर्वत्र मान सर्वत्र पूजे; मध्यम भक्त वह है कि ईश्वरादि में प्रेमादि बुद्धि रक्खे, और अधम भक्त वह है जो अपनी मूर्खता के कारण भस्म में होम के समान मूर्ति में ईश्वर को पूजे। इन अनेक प्रमाणों से यही एक बात सिद्ध होती है कि पुराण-शिरोमणि 'श्रीमद्भागवत' मूर्तिपूजा का परम शत्रु है।

मैंने यहाँ संक्षेप से मूर्तिपूजा विषय पुराण में दिखलाया। पाठक लोग इसे अच्छी तरह विचारें। यद्यपि यह लेख सत्र पिष्ट-पेषणमात्र ही है, तथापि समय-समय पर अपने सनातनी भाइयों को कुछ शिक्षा अवश्य दातव्य है और ये लोग समय-समय पर कोलाहल भी बहुत मचाया करते हैं, अतः उनके सन्तोषार्थ यह लेख लिखा है। प्रतिवाद यदि कोई करेगा तो पुनः इसका उत्तर इसी पत्र में दिया जाएगा। इति शम् !

जब प्रकृति की अनमोल दवाइयाँ आपको आसानी से उपलब्ध हैं तो--गोली, पुड़िया, कैप्सूल या इन्जेक्शन की क्या जरूरत है ?

घर का वैद्य

लेखक—सुनील शर्मा

१. घर का वैद्य आंवला	३.५०	११. घर का वैद्य दूध-घी	३.५०
२. घर का वैद्य नीम	३.५०	१२. घर का वैद्य दही-मट्ठा	३.५०
३. घर का वैद्य गन्ना	३.५०	१३. घर का वैद्य नमक	३.५०
४. घर का वैद्य प्याज	३.५०	१४. घर का वैद्य हल्दी	३.५०
५. घर का वैद्य लहसुन	३.५०	१५. घर का वैद्य हींग	३.५०
६. घर का वैद्य नीबू	३.५०	१६. घर का वैद्य बेल	३.५०
७. घर का वैद्य तुलसी	३.५०	१७. घर का वैद्य बरगद	३.५०
८. घर का वैद्य पीपल	३.५०	१८. घर का वैद्य मूली	३.५०
९. घर का वैद्य आक	३.५०	१९. घर का वैद्य गाजर	३.५०
१०. घर का वैद्य सिरस	३.५०	२०. घर का वैद्य अदरक	३.५०

बीसों पुस्तकें चार सुन्दर जिल्दों में १४०.००

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यासजी प्रणीत

महाभारतम्

महाभारत धर्म का विश्वकोश है। व्यासजी महाराज की घोषणा है कि जो कुछ यहाँ है, वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है। इसकी महत्ता और गुरुता के कारण इसे पञ्चम वेद कहा जाता है।

वेद को छोड़कर सभी वैदिक ग्रन्थों में प्रक्षेप हुए हैं। महाभारत भी इस प्रक्षेप से बच नहीं सका। महाभारत की श्लोक संख्या बढ़कर एक लाख पहुँच गई है। इसमें असम्भव गप्पों, अश्लील कथाओं, विचित्र उत्पत्तियों अप्रासाङ्गिक कथाओं को ठूंसा गया। इतने बड़े ग्रन्थ को पढ़ना कठिन हो गया।

आर्यजगत् के ही नहीं भारत के प्रसिद्ध विद्वान्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

द्वारा तैयार एक विशिष्ट संस्करण।

इस ग्रन्थ में असम्भव, अश्लील और अप्रासांगिक कथाओं को निकाल दिया गया है। लगभग १६,००० श्लोकों में सम्पूर्ण महाभारत पूर्ण हुआ है। श्लोकों का तार-तम्य इस प्रकार मिलाया गया है कि कथा का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है।

☐ यदि आप अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास की, संस्कृति और सभ्यता की, ज्ञान-विज्ञान की, आचार-व्यवहार की गौरवमयी झाँकी देखना चाहते हैं,

☐ यदि योगिराज कृष्ण की नीतिमत्ता देखना चाहते हैं,

☐ यदि प्राचीन समय की राज्य-व्यवस्था की झलक देखना चाहते हैं,

☐ यदि आप जानना चाहते हैं कि क्या कौरवों का जन्म घड़ों में से हुआ था? क्या द्रौपदी का चीर खींचा गया था, क्या एकलव्य का अंगूठा काटा गया था, क्या युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष की थी, क्या कर्ण सूतपुत्र था, क्या जयद्रथ को धोखे से मारा गया आदि

☐ यदि आप भ्रातृप्रेम, नारी का आदर्श, सदाचार, धर्म का स्वरूप, गृहस्थ का आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, वर्ण और आश्रमों के धर्म, प्राचीन राज्य का स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, तो एक बार इस ग्रन्थ को पढ़ जाइए।

विस्तृत भूमिका, विषय-सूची, श्लोक-सूची आदि से युक्त इस महान् ग्रन्थ का मूल्य है केवल ६००) रुपये। तीन भाग।

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६

प्रकाशक-मुद्रक विजयकुमार ने सम्पादित कर अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-३२ में मुद्रित करा वेदप्रकाश कार्यालय, ४४०८ नयी सड़क, दिल्ली से प्रसारित किया।